# "मैं भूल न सकूं"

सम्पादक—जयन्त

प्रथम संस्करण } जून १६४० { मूल्य एक रुपया

प्रकाशक —
विजय पुस्तक भण्डार
श्रद्धानन्द बाजार,
देहली।

मुद्रक :—
'अर्जुन' प्रिंटिङ्ग प्रेस,
श्रद्धानन्द बाज़ार,
देहली।

# लेखकों का परिचय—



१ श्रीयुत श्रीनाथसिंह — एक प्रसिद्ध साहित्यिक व पत्रकार। इन्डियन प्रेस से प्रकाशित होने वाले लगभग सभी पत्र आपके हाथों में से हो कर गुजरते हैं। 'बालसखा' व 'हल' के सम्पादक।

२ श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' — भ्रमण, चित्रकला, फोटोग्राफी आदि आपके शौक हैं। कवि व उपन्यास लेखक के तौर पर अधिक प्रसिद्ध हैं।

३ श्री विष्णु प्रभाकर — हिसार के एक मात्र साहित्यिक। कहानी लेखक के तौर पर प्रसिद्धि प्राप्त।

४ श्रीयुत देवीदत्त जी शुक्ल — सरस्वती के वर्तमान सम्पादक। एक पुराने, अनुभवी साहित्यिक।

५ श्री 'पहाडी' — युवक कहानीकार। पर्वतीय साहित्यिकों में आपका अच्छा स्थान है।

६ श्रीमती ऊषा मित्रा — आप बंगाल प्रान्त की हैं, हिन्दी को आपने अपनाया है। आपके 'पिया' उपन्यास को जनता ने बहुत पसंद किया है।

७ श्री लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी — युवक कहानी लेखक। गद्यगीत लेखकों में आपका अच्छा स्थान है।

८ श्री अक्षयकुमार जैन — युवक कहानी लेखक। आपका कहानी-संग्रह 'परित्यक्ता' सुन्दर है।

९ श्री पृथ्वीनाथ शर्मा — पंजाब के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक व कहानीकार। पंजाब में आपका स्थान बहुत ऊँचा है।

१० कुमारी दमयन्ती प्रभाकर — नारी जागरण सम्बन्धी कहानियें व लेख, आपने जो लिखे हैं, जनता की दृष्टि में खरे उतरते हैं।

११ श्रीमती हेमवती — पारिवारिक मनोविज्ञान के अध्ययन से पूर्ण आपकी कहानियें होती हैं, प्रतिभा व संगीत से पूर्ण आपकी कविताएँ।

१२. श्री भगवतीप्रसाद वाजपेई — कहानी व उपन्यास आपने दोनों लिखे हैं, परन्तु कहानी लेखक के तौर पर आपका स्थान काफी ऊँचा है।

१३. श्री विनोदशंकर पाठक — युवक विचारक व साहित्यिक। आलोचनात्मक लेख आपने बहुत सुन्दर लिखे हैं।

१४ श्री श्यामसुन्दर दीक्षित — आगरे से निकलने वाले पत्र 'मराल' के वर्तमान सम्पादक हैं। आप कवि हैं, परन्तु एकांकी नाटक लिखने में सिद्ध हस्त हैं।

१५. श्री कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' — बहुत ही कम समय में आप ने हिन्दी के अच्छे कवियों में अपना स्थान बना लिया है।

१६ श्री बलराज साहनी — आप शान्तिनिकेतन में हिन्दी अध्यापक हैं। अपनी नवीन व मौलिक शैली के लिये आप प्रसिद्ध हैं। आपका विदेशी साहित्य का अध्ययन बहुत ऊंचा है।

१७ कुमारी रत्नकुमारी माथुर — भावुक, कवियित्री व कहानी लेखिका। साँभरलेक की ओर से आप साहित्य-संसार में प्रतिनिधित्व करती हैं।

१८ श्री यज्ञदत्त शर्मा — युवक उपन्यास लेखक व एकाकी नाटक लेखक। आज कल के एकाकी नाटक लेखकों में आप का अच्छा स्थान है।

१६ श्री 'अचल' — 'मधूलिका' नामक पद्य-काव्य के सफल लेखक। कवि के रूप में आप प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहां जो चीज़ उन्होंने दी है वह बहुत ऊंचे पाये की है।

२० कुमारी कृष्णाकुमारी माथुर – कुमारी रत्नकुमारी-माथुर की छोटी बहिन हैं। एक उदीयमान कवियित्री हैं।

२१ श्रीयुत अयोध्यासिंह जी हरिऔध — हिन्दी के कवि-सम्राट। आपकी पुस्तक प्रिय प्रवास हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि है।

२२ श्रीयुत काका कालेलकर — राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और लिपि सुधार-समिति के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का भार आप को ध्येय है। गुजराती व मराठी साहित्य में आपकी कृतियों का स्थान बहुत ऊँचा है।

२३ श्री एम० हारवानान्द बी० एस० सी० — आप एक नवीन लेखक हैं। हिन्दी जगत को आप से आशायें हैं।

२४ श्रीयुत रविनाथ — आप ग्वालियर के एक उठते हुए लेखक हैं। मराठी साहित्य से आपने कई सुन्दर अनुवाद हिन्दी को दिये हैं।

२५ श्री जयन्त — भ्रमण, कहानी लिखना, चित्रकारी आदि आपके शौक हैं। साप्ताहिक 'वीर-अर्जुन' के वर्तमान सम्पादक हैं।

२६ श्रीयुत क्षेमराम बी० ए० — एक समय के प्रसिद्ध सिनेमा पत्र 'रंग-भूमि' के सम्पादक व भूतपूर्व सम्पादक 'वीर अर्जुन' साप्ताहिक। 'आहुति' कहानी-संग्रह, जो जब्त हो चुका है, उस में आपकी कई कहानियाँ थीं।

# मैं भूल न सकूं ..... !



यह वाक्य स्वय अपना परिचय देता है। यह देता है, "मैं जो कहने जारहा हू यह सब स्मरणीय है, प्रयत्न करने पर भी मानस पटल से अलग न किया जा सकेगा।" जो यहा है, वह सत्य है। सत्य मधुर भी होता है, स्केन्डल भी बनाता है। परन्तु, स्केण्डल का भय, साहित्यिक के लिए दूर की चीज होनी चाहिए। ससारी का काम है बात का बतगड बनाना, और साहित्यिक का काम है उसे कह देना मात्र।

जीवन घटनाओं का जोड है। यदि वह यह नहीं है तो उसका माधुर्य समाप्त हो जाता है। इनमें से कुछ कहने सुनने में मधुर होती हैं, हृदयग्राही और मार्मिक भी, असाधारण होतीं ह, इस कारण याद रहतीं हैं।

जीवन का प्रति पल अपनी कथा लिखता जाता है। घड़ी की प्रत्येक टिकटिक में उसका गान होता है। स्मृतियें उन पलों का सकलन होती हैं। कुछ कम, कुछ अधिक, महत्व रखती हुई यह स्मृतियें मानस के हृदय पटल पर अंकित होती जाती हैं। कुछ का प्रभाव स्थाई होता है, कुछ धुंधली होती हैं, भाप की तरह, विस्तृत में आने पर लीन हो जाती हैं। जो स्थाई होती हैं वह धीरे धीरे अस्पष्ट सी होती, हृदय की

गहराइ में पैठ मौन हो जाती हैं। उनका लघु सा भार मनुष्य की पलकों पर भार चढ़ा देता है, वह अलसाया सा, खोया सा दीखता है।

समय मनुष्य से खेलता है। घटना उसकी संगिनी है। उसके बिना समय का महत्व ही नहीं। कभी कभी वह अपनी संगिनी को लिये मनुष्य के समीप आता है। मनुष्य पलक सम्पुटों में मदिरा सी भरे स्वप्निल जग में डोलता सा दीखता है। संगिनी उसकी अलकों को उठाती है, उसके हृदय में खलबली मच जाती है, मोह स्मृतियें जाग उठती हैं, वह चौंक उठता है। देखता है, उसकी स्मृतियों में लीन कहानियें सुनने वाला मिला। वह कह उठता है जो उसके लिए बहुत पवित्र है, उसकी अपनी बात है। और फिर, उस गाथा के अन्त में वह एक ठण्डी सांस लेकर सिर्फ कह देता है, "मैं भूल न सकू ।" उनमें से ही कुछ गाथाओं का संकलन इस पुस्तक में है।

जनता इस पुस्तक को अपनायगी, इसका मूल्य समझेगी और प्रोत्साहन देगी, इसका मुझे विश्वास है। चाहता हू दूसरा संग्रह भी शीघ्र साहित्य प्रेमियों को भेंट किया जा सके। बस! इतना ही ।

—जयन्त



# भूल न सकूँ

## एक

सन् १९२१ या २२ की बात है, मैं असहयोग आंदोलन की आंधी में पड़ गया। इलाहाबाद से उड़कर बम्बई में इस तरह जा गिरा जैसे पेड़ से कोई कमज़ोर पत्ता बवंडर में पड़कर अपनी शाख से बहुत दूर चला जाता है। कालेज छोड़ा था जेलखाना जाने के लिए, मगर एकाएक असहयोग आंदोलन

स्थगित हो गया। नतीजा यह हुआ कि मैं न जेलखाने ही जा सका न कालेज को ही लौट सका। मां बाप के तिरस्कार का सामना न करना पड़े, इस उद्देश्य से कराची पहुंचा।

अब मैं इस शहर में पहुंचा मेरे पास एक पैसा भी नहीं था। अखबार पढ़ने का शौक था, श्री शंकरेश्वर समाचार का नाम सुना था, उसके कार्यालय में नौकरी करने के इरादे से पहुंचा। १५) महीने पर एक जगह मिल गई। तीन दिन वहां काम किया, सड़क की पटरी पर सोया और भूखा रहा। तीसरे दिन जब भूख की ज्वाला बरदाश्त न हो सकी तब उस व्यक्ति से, जो मेरा अफसर था, कुछ पेशगी दिलाने की प्रार्थना की। परन्तु उसने एक न सुनी। लाचार होकर, मुझे वहां से हटना पड़ा।

उसी दिन मुझे एक होटल में पेट भर खाने के बदले में तश्तरियां और प्याले धोने का काम मिल गया। सवेरे ७ बजे से रात को २ बजे तक मैं यह काम करता। होटल का मालिक मेरे काम से खुश हुआ और जब उसने यह जाना कि मैं अंग्रेजी की अच्छी योग्यता रखता हूं तब उसने मुझे आगन्तुकों के सत्कार का काम दिया। तश्तरियां धोने का काम बैठे बैठे करना पड़ता था, यह काम खड़े खड़े करना पड़ा। इसमें थकान ज्यादा लगती थी पर इज्जत भी ज्यादा था। और इज्जत, मान के लिए अपने यौवन के प्रारम्भिक दिनों में मनुष्य क्या नहीं कर सकता?

इस होटल में एक परम सुन्दरी युवती कभी किसी के साथ और कभी किसी के साथ चाय पीने आती थी। वह जिस किसी व्यक्ति को भी लाती थी, उससे होटल के मालिक को अच्छी आमदनी होती थी और उसका सत्कार भी विशेष रूप से होता था।

मेरे व्यवहार से वह युवती प्रसन्न हुई और एक दिन जब होटल का मालिक कहीं गया हुआ था, उसने मुझसे पूछा— "तुम्हारा घर कहा है ?"

"इलाहाबाद।"

"यहा कब से हो ?"

"जब से आप देख रही हैं।"

"क्या तनख्वाह पाते हो ?"

"कुछ नहीं। केवल पेट भर खाना।"

"इससे अच्छी नोकरी मिले तो करोगे ?"

"आपकी बड़ी कृपा होगी अगर आप दिला सकें।"

उसने मुझे अपने मकान का पता बताया और कहा— "यह मकान ग्लोब सिनेमा के पास गोलपीठा में है। बड़ी मशहूर जगह है। किसी से भी पूछोगे तो वह बता देगा।

दूसरे दिन मैं उस मुहल्ले में जा पहुंचा। वह वेश्याओं का मुहल्ला था। रूप का बाजार था। नारी का प्रेमागिर में अपने धन और यौवन की आहुति देने सारा बम्बई यहा पहुंचता था। सड़क के दोनों ओर सींकचेदार झरोखों के पास ये

सुन्दरियां अपने रूप का जाल फैलाकर बैठती थीं, और मेरा ख्याल था, उन दिनों जो भी पुरुष उस सड़क से निकलते थे वे उस रूप जाल में फँसने के ही लिए निकलते थे।

बम्बई में इसी स्वर्ग या नरक में मुझे पनाह मिली। जिस युवती ने मुझे यहां बुलाया था वह एक चकलाखाने की मालकिन की छोटी बहन थी। उसकी मातृभाषा मराठी थी, लेकिन वह टूटी फूटी हिन्दी भी बोल सकती थी। अपनी बड़ी बहन से मेरी सिफारिश करते हुए उसने मेरे सम्बन्ध में क्या कहा यह तो मैं समझ नहीं सका, पर मैंने अनुमान किया कि कुछ अच्छा ही कहा होगा, क्योंकि उसकी बहन मुझे २५) महीना नकद तनख्वाह देने पर राजी हो गई।

मेरा काम चकलाखाने के अन्दर के आफिस में इस छोटी बहन के पास बैठना, खतों का जवाब लिखना और हिसाब किताब रखना था। चकलाखाने में करीब १२ युवतियां थीं। जिनमें ३ ईसाई सी, ४ मराठिन सी और ५ गुजरातिन सी लगती थीं। ये सभी १४ से लेकर ३० तक की आयु की थीं और शाम को जब शृंगार करती थी तब उनके आकर्षण की कल्पना करना कठिन हो जाता था।

आगन्तुकों के सामने चकलाखाने की मालकिन इन सभों को बारी बारी से उपस्थित करती थी और उन की फीस स्वयं लेकर उन्हें आगन्तुकों की क्रूर लिप्सा का शिकार बनने के लिए उनके हवाले कर देती थी। जब कोई आगन्तुक

उन बाग्हों के रूपजाल में नहीं फंस सकता था और उनसे कुछ वसूल कर लेने के सब प्रयत्न जब व्यर्थ जाते थे, तब मालिकिन की इस छोटी बहिन की पुकार होती था और वह उनको फांस ही लेती थी।

एक हफ्ता नौकरी करने के बाद मुझे उस चकलाखाने का सारा रहस्य मालूम हो गया। वे सभी स्त्रियां सुन्दरी, युवती और प्यार करने लायक थीं। वे पुत्री, पत्नी, गृहिणी, माता, के रूप में पूजने योग्य थीं। उस मकान में आफतों की मारी हुई वे भी पहुंचीं, बिलकुल उसी तरह जैसे कि मैं पहुंचा था।

मेरे हृदय में चकलाखाने की मालिकिन और उसकी परम सुन्दरी छोटी बहिन के प्रति घोर घृणा का भाव उदय हुआ। उनका सारा जीवन मुझे नारकीय जान पड़ा और हिन्दुस्तान में स्त्रियों की पवित्रता किस बेरहमी से नष्ट की जाती है उसका भी मुझे वहीं अनुभव हुआ। मैंने निश्चय किया कि इस नौकरी से भूखों मरना अच्छा है और मैं विदा लेने के उद्देश्य से मालिकिन के पास पहुंचा।

उस समय वहां दूसरा ही दृश्य उपस्थित था। संयुक्त प्रांत के जौनपुर जिले की एक युवती वहां फंसाकर लाई गई थी। उसकी आंखों से झरझर आंसू बह रहे थे और वह भय भीत हरिणी सी चकित होकर चारों ओर देख रही थी। उसे जबरदस्ती शराब पिलाई गई और वह तुरन्त एक नर राक्षस के

ख्याल की गई। उस समय उसकी सहायता न कर सकने का अपनी असमर्थता का अनुमान करके मैं आज भी कांप उठता हूँ। सोचा था स्तीफा दे दूँ, लेकिन मालिकिन की एक ही डांट ने मेरे ख्याल दुरुस्त कर दिये और मैं अपने काम पर लौट आया।

दूसरे दिन करीब ११ बजे जब मालिकिन और उसकी छोटी बहिन खाना कहीं चली गई थीं, मैंने इस युवती से भेंट की। उसने रो रो कर अपनी कहानी कही—"मैं पटहार की लड़की हूँ। इसी साल मेरा गौना होनेवाला था। इस आदमी ने मेरे ऊपर जादू कर दिया। मुझे बम्बई भगा लाया। कहता था—तुमसे प्यार करता हूँ। वह मुझको नहीं, न जाने किस का प्यार करता है। हाय! वह मुझे यहां डाल गया। अब क्या करूं?"

दरियाफ्त करने पर मालूम हुआ कि वह आदमी जो उस औरत को भगा लाया था, बम्बई की किसी मिल में नौकर था और जौनपुर का ही रहनेवाला था। लड़की को उस से प्रेम हो गया था और इसी से वह उसकी बातों में पड़कर चली आई थी। पर उसने उसके साथ दगा की थी। इससे उसका हृदय फटा जाता था।

मैंने कहा—"कहो तो पुलिस को खबर कर दूं। तुम्हारी मर्जी के खिलाफ ये लोग तुम्हें यहां जबरदस्ती नहीं रख सकते।"

"यह ठीक है, पर पुलिस में खबर करने से मेरे मा-बाप और सास-ससुर को भी खबर हो जायगी। वे क्या कहेंगे। दोनों कुल की नाक कटेगी। हाय! मैं क्या करू ?"

वह किसी तरह इस बात पर राजी न हुई कि पुलिस को खबर की जाय। मेरी सहानुभूति पाकर वह मुझसे कहने लगी—"तुम मेरे साथ शादी करलो। मुझे लेकर यहां से कहीं भाग चलो। मेरी रक्षा करो। तुम मर्द हो। मुझे बचाओ।"

मैंने कहा—'मैं विवाहित हूं, और अगर न होता तो भी इस परिस्थिति में नहीं हूं कि तुम्हें यहां कहीं टिका सकूं और अपना और तुम्हारा दोनों का गुजर चला सकूं।"

"हाय राम! अब क्या हो ?" उसने मेरी ओर निराशा भरे जलपूर्ण नेत्रों से देखा। उस समय मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे मैं कोई पत्थर का देवता हूं और वह युवती भक्तिभाव से ओत प्रोत हो मेरी व्यर्थ पूजा में लगी है।

अन्त में वह बोली—"अच्छा! मुझे यहां से किसी तरह जौनपुर ले चलो। अपनी मां के पैरों पड़ूंगी। शायद वह फिर से घर में रख ले।"

"हां, यह कर सकता हूं।" दूसरे ही क्षण में उस बदनाम घर से उस स्त्री को लेकर निकल भागने के उपाय सोचने लगा।

* * * *

सन्ध्या हुई। गोल पीठा जगमगा उठा। सीकचों में युवतियों के हृदय का रुदन कृत्रिम हास्य बनकर उनके होठों

को मलिन करने लगा। तमाशागीर लोग आने लगे। एक की दृष्टि उस युवती पर पड़ गई। उसके साथ फिर जबरदस्ती होने लगी।

उस समय मैं अपने को सम्भाल न सका। मैंने आगे बढ़ कर कहा—"श्रीमती जी यह न होगा। मेरे रहते मैं इस औरत के साथ ज्यादती न होने दूंगा।"

"बदमाश! निकल मेरे घर से।" मालकिन गरज कर बोली। मैंने उस युवती का हाथ पकड़ा और कहा—"आओ, चलें।"

वह मेरे पीछे चल दी। मालकिन आगे बढ़ी और उसने उसका रास्ता रोका। पर हम दो थे और मालकिन अकेली। हमारे हृदयों में हिम्मत थी और उसे भण्डाफोड़ हो जाने का भय। इसलिए उसका विरोध हमारी गति रोक न सका। साथ ही हल्ला मचने से तमाशबीन जमा हो गए और सभों ने हमारा पक्ष लिया। पर इसका एक कुपरिणाम यह भी हुआ कि हम दोनों करीब के थाने में पहुंचाए गए।

थाने वालों ने उस युवती को मुझ से अलग करने की कोशिशें कीं, पर मुझमें न जाने कहां से अद्भुत बल और साहस आगया था। अन्त में पुलिस वालों को हार माननी पड़ी और मैं उस युवती को लेकर स्टेशन आया।

मार्ग में एक उदार पारसी था। शायद धनी भी था और वकील भी। उसने सारा किस्सा सुनकर हम पर दया की और

कुछ कानूनी बातें बतलाईं। इतना ही नहीं उसने जौनपुर तक का टिकट कटा कर हम गाड़ी पर बैठाल दिया।

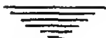
तीसरे दिन हम जौनपुर पहुचे। दिन स्टेशन पर गुजारा। जब रात हुई तब अन्धकार के आवरण में उस युवती के घर पहुचे। उसके मा बाप उसकी चिन्ता में उदास बैठे थे। परन्तु उसे देखते ही उसका क्रोध भड़क उठा। मा तो कुछ न बोली, पर बाप ने गरज कर कहा—"हरामजादी निकल हमारे घर से। तेरे लिये यहा जगह नहीं है।"

मैंने उस युवती को सम्बोधित करके कहा—"रामकली मैं जाता हू।"

"हा तुम जाओ।"

मैं उसी क्षण स्टेशन को लौटा। उस समय मेरे कानों में उस युवती की पीठ पर उसके पिता के जूतों की तड़ातड़ बौछार और उसका चोट से चीत्कार सुन पड़ रहा था। एक बार तो मन में आया कि लौट कर कुछ उसे समझाऊ पर हिम्मत न हुई।

उसके बाद उस युवती का क्या हुआ, यह मैं आज तक जान नहीं सका। —श्रीनाथसिंह



## दो

——न भूलनेवाली बात भी याद करके लिखी या लिखाई जा सकती है। और जो बात मुझे याद आई उसका विश्लेषण कर के देखता हूँ तो वास्तव में एक नहीं दो बातें हैं। फिर भी ऐसा लगता है कि दोनों ही बातें कहे बिना कहानी पूरी नहीं होती, इसलिये जिस ढंग से बात याद आई है उसी ढंग से सुनाये देता हूँ। कहानी, एक लेखक की हैसियत से, मेरे बड़े भारी सौभाग्य और उतने ही दुर्भाग्य की कहानी है।

पहिले सौभाग्य की बात कहूँ, क्योंकि सौभाग्य क्षणिक होता है, दुर्भाग्य हमेशा साथ चलता है। सुना है आर्नल्ड बेनेट की पहिली पुस्तक की कापी राइट के मूल्य स्वरूप जब पाँच पाउण्ड का एक नोट उनके पास पहुँचा तब अपनी 'जीनियस' के प्रति श्रद्धा से भरकर उन्होंने मन में ठान लिया कि वह नोट वे उस व्यक्ति को भेंट करेंगे, जिसे पहिले पहिल अपनी रचना पढ़ते हुए देखेंगे।

सुनते हैं जब वे मरे तब यह नोट उनके पास था।

"भग्नदूत" जब छपा तब उसके लिये मुझे कुछ मिला नहीं और न मैंने कोई मनौती ही मानी। लेकिन यह कहना सच नहीं होगा कि उसके भविष्यत पहिले पाठक यानी मेरे देखे हुए पहिले पाठक की कल्पना मैं भी नहीं करता था। लेकिन तब मैं जेल मे था और जेल से आने तक पहिली रचना के प्रकाशन का चमत्कार बहुत कुछ नष्ट हो चुका था। कौन उसे पढ़ता होगा इस बात की ओर ध्यान कभी नहीं जाता था। जेल से आने के दो ही दिन बाद लाहौर की एक सड़क पर चला जारहा था। जेल का आदी हो जाने के बाद बाहर के जीवन से नया सम्बन्ध अभी कायम नहीं कर सका था, इसीलिये अपने आप में गिरा हुआ सिर झुकाये चल रहा था। एकाएक न जाने किस प्रेरणा से मैंने सिर उठा कर एक तांगे की ओर देखा, जो तभी मेरे पास से निकल कर आगे जा रहा था। उसमें बड़े आश्वस्त भाव से बैठी हुई एक महिला कुछ पढ़ती चली जा रही थी। सामने ही मोड़ था। तांगा मुड़ने पर उस महिला के हाथ की पुस्तक का कवर मुझे दीख गया। आर्नल्ड बेनेट की आत्मा मुझसे ईर्ष्या न करे और आप भी अविश्वास न करें वह पुस्तक थी "भग्नदूत"।

लाहौर में मोरीगेट के सामने से एक सड़क निकलती है, जिस पर किताबों की बहुत सी दुकानें हैं। जो लोग अपनी परिस्थिति में अपने को फिट नहीं बैठा सकते वे ही प्राय इस

सड़क के चक्कर काटा करते हैं, क्योंकि इसमें सभी दर्जा की दुकानें हैं। ऐसी भी हैं जो दुकानों की दुनिया में 'पेरिस्टोक्रेसी' कहलायेंगी और ऐसी भी जहां 'डेमोक्रेसी' की ठेलमठेल में सड़ी, गली और फटी चिथड़ी किताबें, अन्य किताबों के साथ ही नहीं, बल्कि पुराने टीन के डिब्बों, खाली बोतलों, हिरन के इक्के दुक्के सींगों के साथ धूप सेंका करती हैं। उपर्युक्त घटना के दो ही तीन दिन बाद मैं भी इसी सड़क पर चक्कर काट रहा था।

'डेमोक्रेसी' की निचली सीमा तक पहुंची हुई एक कबाड़ की दुकान पर मेरी नज़र अटक गई। सामने की ही पांत में टूटा हुआ ध्वजदण्ड थामे पराजय दूत का चित्र दीख रहा था—'मेरा भग्नदूत'।

घटना तो इतनी ही है, लेकिन कहानी का महत्व घटना से नहीं, घटना के प्रति 'रिस्पान्स' (Response) से होता है। 'भग्नदूत' को यहां देखकर सबसे पहिली जिज्ञासा मेरे मन में यह हुई कि यह प्रति किसी की खरीदी हुई है या मेरा ही भेंट की हुई? यही देखने के लिये मैंने पुस्तक उठाकर 'फ्लाई लीफ' खोला।

उस पर जहां पुस्तक खरीदने वाले का नाम या भेंट करने वाले की ओर से समर्पण का कोई वाक्य लिखा हो सकता है, उतनी जगह सेफ्टी रेज़र के ब्लेड से काटकर निकाल दी गई थी।

यह अनृप्त कौतूहल जीवन भर बना रहेगा, लेकिन इससे भी बढ़कर न भूलने वाली बात जो है वह यह कि इस 'क्राइसिस' के वक्त मैं अयोग्य साबित हुआ, कि अपना ही लिखा हुआ कराड खुद खरीद लेने का बात नहीं सूझी।

—अज्ञेय



'आप कहते हैं, सरकार! अच्छा,आयो भाई।'

बालक हंस पड़ा—'देखा न !'

बालिका मन ही में बोल उठी—'चुप रह!'

लेकिन बालक अल्हड़ था, तांगेवाले को चिढ़ाता हुआ पर कोने में डटकर बैठ गया। बालिका न जाने क्यों झिझकी। मैंने तनिक सरक जगह की—'तुम यहां बैठ जाओ।'

वह नहीं बैठी, बल्कि बालक से बोली—'तुम यहां बैठो। मैं इस कोने में बैठूंगी।'

बालक नहीं माना—'मैं नहीं बैठता। तुम्हीं यहां बैठो।'

बालिका की उमर कोई बारह तेरह की होगी। उसने बुरका ओढ़ा था। जब उसने देखा कि बालक नहीं उठता, तो वह सकोच से मेरे पास बैठ गई। फिर उसने बुरका उठाकर मेरी ओर देखा। मैंने भी देखा—बालिका बड़ी सुन्दर, भोली और लज्जा की मानो तस्वीर थी।

तांगा अपनी रफ्तार से चलता रहा। बालक न जाने क्या क्या कह रहा था, पर बालिका शान्त थी। वह क्षण क्षण में मेरी ओर देखती। मैं सोचता—बालिका बड़ी सजग है। इतनी छोटी उमर में इतना जागृत भाव कि एक हिन्दू पुरुष के पास नहीं बैठेगी ।

कि सहसा बालिका बोली—'भाई! आप कहां जा रहे हैं?'

'भाई !' मैं तांगे में बैठा बैठा हिल उठा। न जाने

उस भाई शब्द में क्या था। मेरा रोम रोम अचरज से प्रतिहत हो आया—इतनी सजगता! इतनी शीलता!

सभल कर मैं बोला—'काजी हौज!'

बालिका ने कहा—'वहीं हम रहते हैं, भाई! लाल कुए के पास।'

तांगा चौकी के पास से गुजरा। बालक बोला—'मैं एक पैसे में तमाशा देखूं गा।' और वह बड़े जोर से हंस पड़ा। बालिका बोली—'चुपरह, कहीं पैसेमें भी तमाशा देखा आता है।'

'मैं देखूं गा'—बालक फिर बोला।

लड़की ने फिर मेरी ओर देखा। मैं सोचने लगा—यह अल्हड़ बालक और यह बालिका! दोनों में कितना अन्तर है!

मुझे उस बालिका ने जैसे मथ डाला। हौजकाजी के पास आने तक उसने कई बार मुझे 'भाई' कहा और प्रत्येक बार उस भाई शब्द ने मुझे एक बड़ी भावना दी। मैं ग्रेटागार्बो को न जाने कहां छोड़ आया। उसके स्थान पर इस जीवित पेन्टिंग ने मुझे जकड़ लिया। आखिर तांगा रुका। बालिका ने बुरका डाल लिया और बालक की उंगली पकड़ कर चली। मैंने कहा—'मैं छोड़ आऊं?'

बालिका ने बुरका उठाकर मेरी ओर देखा—'नहीं, भाई! हम तो रोज ही आते हैं!'

वह मुस्करा उठी। फिर हाथ उठाकर बोली—'सलाम भाई!' और वह चली गई। मैं क्षण भर तक ठिठक कर देखता

रहा—कितना स्थिर कदम, कितनी सजगता, कितनी शिष्टता इस मुसलमान बालिका में !

साथी ने कहा—'चलो भाई, क्या सोच रहे हो ?'

मैं चल पड़ा, लेकिन दिलमें एक धीमा२ दर्द सा उठा—मैं उसे अपने घर ले चलता, बहिन की तरह। हिन्दू भाई की एक मुसलमान बहिन होती !

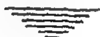
हा भाई ! मैं आप ही हिल उठा—असम्भव है ! यह असम्भव है ! और मैं सोचता २ अपने रास्ते पर बढ़ गया। उसने मुझे भाई कहा ! वह भाई का अर्थ जानती थी ?

और आज चार वर्ष बीत चले हैं। मैंने फिर उस बालिका को नहीं देखा। काश ! मैं उसे देख पाता।

उसने मुझे भाई कहा था !

भाई !

—विष्णु प्रभाकर



# चार

साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के सम्पादक श्रीयुत जयन्त जी की आज्ञा है कि मैं अपने जीवन की कोई ऐसी बात लिख दूं जिसे मैं आजतक भूल न सका होऊं। परन्तु यदि यही बात होती तो उसका लिख देना उतना कठिन न था। मैं एक पंक्ति में लिख देता कि जब मैं सात वर्ष का था तब मैं अपने साथियों से 'गंगा की कसम' खाना सीख गया था। एक दिन मैंने अपनी मां के सामने 'गंगा की कसम' कह दी। तत्क्षण एक तमाचा लगा और साथ ही यह डांट कि फिर कभी कोई कसम खाई तो ठीक तरह दुरुस्त कर दूंगी। और आज तक मुझे वह तमाचा याद है, क्योंकि मैंने फिर कभी कोई कसम नहीं खाई। बस, इतना लिख कर छुट्टी पा जाता। परन्तु नहीं, इतनी ही बात नहीं है। उस बात की आड़ में श्री जयन्त जी कुछ और चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वह बात भी मार्के की हो, साथ ही वह लिखी भी ऐसे ढंग से जाय कि उसमें 'रस'

था जाय। परन्तु ऐसा कुछ लिखने की मुझ में पहले भी आवश्यक क्षमता नहीं रही है और इधर गत दस वर्ष की दफ्तरबाजी ने, जो कुछ शक्ति थी भी उसका एकदम अस्तित्व ही मिटा सा दिया है। परन्तु श्रीयुत जयन्त जी ने एक स्नेह शील बालक सा आग्रह फिर किया है, इसी से यहां मैं अपना एक बात लिखने के लिए बाध्य हो रहा हूँ।

मेरे चाचा पंडित चण्डिका सहाय शुक्ल प्रतापी पिता के प्रतापी पुत्र थे। वे सिद्ध तांत्रिक और पीयूषपाणि वैद्य थे। इसके सिवा एक राजवंश के राजगुरु थे। सौभाग्यवश उनकी मुझ पर विशेष प्रीति थी, और स्कूल का छुट्टियों में जब मैं घर आता तब उनके पलंग के पास बैठ कर चँवरी से मक्खियां उड़ाया करता था। ऐसे समय वे प्रायः अपने पूर्वजों तथा अपने सम्बन्ध में आये हुए लोगों के गुणों की तथा दोषों की कथायें सो कहा करते थे, जो बड़ी रोचक होती थीं।

चाचाजी कहते थे कि उनके पितामह मुन्नालालजी शास्त्र पारंगत थे और उनका अपने बहनोई पण्डित शिवप्रसाद वाजपेयी से जो षट् शास्त्री थे, नित्य शाम को घंटों संस्कृत में वादविवाद होता रहता था। वे बक्सर में आकर अपने बहनोई के घर के पास ही, जहां उनकी ससुराल भी थी, बस गये थे। जब वे रायतपुर छोड़ कर बक्सर आये थे तब यहां के चण्डिका क्षेत्र में नवदिन के अनशन व्रत के साथ उन्होंने चण्डी का

प्रयोग किया था, जिसके फलस्वरूप भगवती प्रसन्न हुईं थी और प्रयोग की समाप्ति के ही दिन यहां के तालुकदार ठाकुर अचलसिंह ने अचानक आकर आग्रहपूर्वक उनसे दीक्षा ली थी और वे राज्यमान्य हुए थे।

अपने पिता पण्डित मंगलप्रसाद के सम्बन्ध में कहते थे कि वे उतने पण्डित तो नहीं थे, किन्तु बड़े भारी तपस्वी साधक थे और बाद को तो वे दिन रात पूजास्थान में ही पड़े रहने लगे थे। जब गदर के समय में एक दिन सन्ध्या समय बकसर में एकाएक यह खबर पहुँची कि कल सवेरा होते ही बकसर फूंक दिया जायगा और यहां जो मिलेगा वह मार डाला जायगा तब गावों के ठाकुरों ने सब से कहा कि भाग जाओ। यही नहीं, गांव के सब से वृद्ध ठाकुर देशराजसिंह गांव घूमने निकले कि लोग भाग रहे हैं या नहीं।

चाचा जी कहते थे कि जब वे मेरे दरवाजे पर आये तब मैं घबराया हुआ अकेला दरवाजे पर बैठा था। उन्होंने पूछा कि सुकुल जी कहां हैं और तुमने भागने का अच्छा प्रबन्ध किया है? तब मैंने कहा कि चन्द्रमणि खेरा से बैलगाड़ियां मंगवाई हैं, पर बापू तो अपनी पूजा में ही बैठे हैं और भाग चलने के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कहा है। यह सुन कर ठाकुर देशराजसिंह दड़दड़ाते हुए भीतर घुसते चले गये और जहां बापू बैठे पूजा कर रहे थे, जाकर कहा—"जौन तौन हमीं लोग जानते हैं कि मंगलप्रसाद सिद्ध महात्मा हैं। गोरे यह नहीं

जानने। उठो, पूजा का आसन छोड़ो।" उनके ऐसा कहते ही, बापू ने आसन छोड़ दिया और माला जपते हुए एक ओर जाकर खड़े हो गये। तब उन्होंने उनके नौकर से कहा—"इनका पूजा का सामान जल्दी बांध और घर के सब लोगों से कह दे कि भाग निकलने की जल्दी तैयारी करें।" फिर बाहर आकर चाचा से कहा कि अगर गाड़ियां न आयें तो हमें खबर देना। लेकिन दम बजते बजते दो गाड़ियां आ गई और सब मालमता ज्यों का त्यों जहां का तहां छोड़ कर घर के सब स्त्री-बच्चे जो संख्या में १६ थे उन्हीं गाड़ियों में लद कर भाग खड़े हुए, और रातोंरात पास के गांव चहोतर में आकर अपने एक मित्र के यहां ठहरे। दूसरे दिन बक्सर फूंक दिया गया और जो भी वहां मिला मार डाला गया, क्योंकि बक्सर के गंगा तट के एक शिवालय में ७ अंगरेज मारे गये थे। वह शिवालय भी तोपों से उड़ा दिया गया।

चाचाजी अपने ससुर पंडित माधवसिंह कप्तान की भी कथा कहा करते थे। उन्होंने सालापुर के युद्ध में शरणागत अंगरेज अफसरों का जान ही नहीं बचाई थी, किन्तु रातोंरात बहुत दूर ले जाकर सुरक्षित स्थान में उन्हें पहुंचा भी आये थे। परन्तु वे अन्त तक बेगम साहबा के ही पक्ष में लड़ते रहे उन्हें नमक का ख्याल था। बादशाह वाजिदअली भी उनका आदर करते थे। उनके समय में वे सेना में कप्तान थे।

कप्तान माधवसिंह के मकान के पास ही हमारे पितामह पण्डित मंगलप्रसाद एक मकान में लखनऊ जाने पर ठहरा करते थे। इस कारण दोनों आदमियों में स्नेह हो गया था। चाचा कहते थे कि एक बार उन्होंने अपने शिष्य, पहो के ठाकुर भूपसिंह की जमानत कर ली। पहो से ठीक समय पर जब रुपये नहीं पहुंचे तब वे कैद, कर लिये गये। जब कप्तान माधवसिंह फौज से घर आये और उनके कैद हो जाने का हाल सुना तब वे सीधे बादशाह के पास पहुंचे और कहा कि जहांपनाह, जब हमारे नातेदार बिना अपराध के कैद हो जायगे तब हम सरकार की कैसे सेवा कर सकेंगे? बादशाह ने पूछा, क्या बात है, तब उन्होंने बापू के कैद होने का हाल कहा और निवेदन किया कि यदि तालुकदार ने रुपया नहीं दिया है तो हम लोगों को क्यों हुक्म नहीं होता कि खड़े खड़े रुपया ले आवें।

बादशाह ने उसी क्षण बापू को छोड़ देने का हुक्म दे दिया। इस बात से बापू उनके बड़े कृतज्ञ हुए। चाचाजी कहते थे कि यही नहीं, उन्होंने एक दिन मेरी ओर इशारा करके उनसे यह प्रस्ताव किया कि तुम इस लड़के को ब्याह लो ताकि हमारा तुम्हारा और निकट का सम्बन्ध हो जाय। इस पर उन्होंने कहा कि मेरी ब्याह योग्य लड़की तो इनसे पांच वर्ष बड़ी है। बापू ने कहा, कोई हर्ज नहीं है। और ब्याह हो गया।

चाचाजी अपने बापू की अनेक विलक्षण बातों की चर्चा किया करते थे और कहा करते थे कि वे बड़े स्वाधीन विचार के थे। उन्होंने भोजन बनाने के लिये एक रसोइया रख लिया था जो सर्वथा समाज के नियम के विरुद्ध था। एक बार अकाल पड़ गया था। लखनऊ से लौटते समय उन्हें मार्ग में दो छोटे छोटे बच्चे पड़े मिले। उन्हें वे अपने साथ लेते आये। रूपरेखा से वे लोगों को लोध जँचे। उनका घर में लालन-पालन हुआ। लड़का जब सयाना हुआ तब वह तो कानपुर भाग गया, पर लड़की कहा जाती। गांव के लोग उसे चिढ़ाया करते कि उसका विवाह कौन करेगा। एक दिन वह चुरिहार के घर गई और वहा से लाख की चूड़िया पहन आई। चाचाजी कहते थे कि घर आने पर जब मा ने उससे पूछा कि ये नई चूड़िया क्यों पहनी है तब उसने कहा कि लोग मुझे चिढ़ाते रहते हैं कि तेरे से ब्याह कौन करेगा, इससे मैंने बाबा के नाम की ये चूड़ियाँ पहन ली हैं, जिससे लोगों का मुह अब बन्द हो जायगा। यह सुनने पर मा ने बापू से जाकर उसकी बात कह दी। बापू ने आकर पूछा कि क्या बात है। उसने वही बात दोहरा दी। तब बापू ने मा से कहा—तो घर की चाभियाँ अब इसे दे दो। मा ने तत्काल चाभिया उसके आगे फेंक दीं और उसने उन्हें उठा लिया। और जब तक जीवित रही, घर की मालकिन की तरह रही। वह आजन्म कुमारी रही, और उसने ब्याह करने की कभी इच्छा नहीं प्रकट की।

चाचा जी अपने बापू की एक और महत्व की बात प्राय कहा करते थे। उन्होंने अपने भाई का ब्याह नजफगढ़ में मिश्रों के यहा किया था। जब ब्याहने गये तब मिश्र जी बारात को भोजन तक न दे सके। लाचार होकर बारातियों को जामुन खाकर चार दिन गुजारने पड़े। लड़की को जिस तरह विदा किया, विदा करा लाये और लेनदेन का नाम तक न लिया। इससे उनका बड़ा नाम हुआ। वे वास्तव में बड़े त्यागी, बड़े उदार और तपोनिष्ठ ब्राह्मण थे। पार्श्ववर्तियों को छोड़ कर कोई कभी नहीं जान सका कि वे किस की उपासना करते हैं और क्या खाते पीते हैं।

चाचाजी अपने पूर्वजों के महत्व और उनकी मान मर्यादा का जब जिक्र करने लगते थे तब कभी २ उनके आंसू आ जाते थे। वे कहते थे कि बघराडे में उनके घर की मान मर्यादा रईस महात्माओं जैसी थी। डौड़ियाखेरा के राज दरबार में राजवैद्य का मान था ही, उधर लखनऊ में अमीर उमरा में भी उनका बढ़ा-चढ़ा आदर-सत्कार होता था। और यहां के बड़े २ अनेक ठाकुर लोग तो शिष्यवर्ग में थे ही। सचमुच वे दिन हमारे घराने के सोने के दिन थे। परन्तु नवाबी का अस्त होते ही हमारा भी अस्त होगया। सारी जमीन जायदाद छिन गई। जिनके यहा मान मर्तबा था उनका ही अब नाम निशान तक न रहा तब हम लोगों को कौन पूछता? केवल

यहाँ का आश्रय शेष रह गया था और उसी की सहायता से हमारे चाचाजी अपनी स्थिति किसी तरह नये सिरे से फिर बना सके थे। परन्तु पहले का सा ठाट न आ सका— वह समय ही नहीं रहा।

चाचा जी कहते थे कि जब गदर की अशान्ति मिट गई और अंगरेजी अमलदारी कायम होगई तब सरकारी ऐलान हुआ कि अपनी जमीन जायदाद के सम्बन्ध में जिनको नालिश फरियाद करनी हो वह अमुक तारीख तक आकर जिले के हाकिम के पास करे, नहीं तो फिर कोई सुनवाई नहीं होगी। जब उन्हें इसकी खबर मिली और हाकिम का पड़ाव पास के एक कस्बे में आकर पड़ा, तब वे अपने प्रिय मुश्की घोड़े पर सवार होकर वहां गये। बाजार में अपने हलके के कानूनगो से भेंट हुई। उन्होंने कहा—मुकुल जी, आप किस फेर में हैं? आपका गांव सरकार के यहां बागी गांव माना गया है। यदि बागी होने के सन्देह में धर लिये जाओगे तो व्यर्थ जहमत में पड़ जाओगे। अगर जिन्दा रहोगे तो अपनी योग्यता से ऐसी जमींनें और मौजें फिर प्राप्त कर लोगे। चाचा जी ने कहा— कि वह समय ऐसा ही भीषण था। जरा से सन्देह पर बड़े२ रईस मिट्टी में मिला दिए गए थे। अतएव वह पड़ाव से चुप चाप लौट आये और गांव व जमीनों का दावा न की।

इसी तरह चाचा जी अपने घराने की मान मर्यादा की प्रायः चर्चा किया करते थे जिनको सुन सुन कर हृदय को एक

अभूतपूर्व तृप्ति हुआ करती थी। यद्यपि मैंने उन्हें सैकड़ों बार सुना था और उनका वर्णन बार २ उन्हीं शब्दों में हुआ करता था, तथापि उनके सुनने से जी कभी नहीं उकताता था, परन्तु उनको मैंने कभी महत्व नहीं दिया। उनका परम श्रद्धा भाजन महत्व तो मुझे उस दिन मालूम हुआ जब राय बहादुर पण्डित राजनारायण मिश्र ने मुझसे कहा कि उनके पिताजी भोजन करते समय और माता जी संध्या को सोते समय उनसे अपने पूर्वजों के गौरव की गाथायें सुनाया करती थीं और अपनी परम्पराओं और संस्कृति की रक्षा की शिक्षा के लिए यही हमारे शिक्षा क्रम का प्रथम पाठ होता था। रायबहादुर साहब की यह बात मेरे मन में बैठ गई और अपने चाचा जी द्वारा कही गई अपने पूर्वजों की गौरव गाथा के महत्व को मैंने भले प्रकार हृदयगम किया, यहां तक कि अब मैं उनको कभी नहीं भूल सकूंगा।

—देवीदत्त शुक्ल।





## पांच

मिस्टर 'बर्जे' की दिमाग सूझ पास है। हम लोग इसी बात से उनका मुकाबला करते थे। हमारा यह स्वर्ग-धाम, अपना छोटा हुआ मकान था। मैं होस्टल और मिस्टर बर्जे डॉर्मिटरी में रहा करते थे। उनको कार्ट्रिज और सामान का बड़ा शौक था। उन्होंने बहुत किसी कपड़े बनवाए थी, उन्होंने रंगवा था। हम सब भी उनके आगे गम्भीर बन उनका हुक्म सुना करते थे। हुक्मउदूली का साहस कभी हमने पेश नहीं किया।

सन्ध्या थी यह। मिस्टर बर्जे बोले—"घूमने चलोगा।"

मैं हॉकी के मैच से लौटा था। थक चुका गया था। फिर भी पूछा ही—"कहाँ?"

मिस्टर बर्जे को 'टिप टॉप' रहने का शौक था। उनकी उस दिन वाली तैयारी देख कर मैं भौंचक्का रह गया था। कोट पैंट पर इस्त्री लगी हुई थी, बटन-होल पर गुलाब की कली खोंसा

गई थी, बालों से भूतनाथ तेल की तेज महक आरही थी। फैल्ट हैट ठीक करते वे बोले— "गंगा के किनारे जाना है।"

हाँकी पटक कर मैं उनके साथ हो लिया। घूमते २ हम सुलगाड़ियों को पार कर रहे थे। मिस्टर कने ने उंगली से इशारा किया, बोले—"पहिचानता है।"

"वह तो चमार की लड़की है।"

"है तो खूबसूरत। मुझसे पन्जा लड़ाया करती है।"

"तुमसे! वाह तुम पर कौन नहीं मरता है।"

"इसाइनों की स्कूल में आजकल पढ़ रही है।"

कुछ अंधियारा हो आया था। वह हाथ में पानी की गगरी लिए घाट की ओर पानी भरने जा रही थी। हम धीरे २ आगे बढ़ गए। मिस्टर कने ने सिगरेट सुलगा ली। इस बीच वह हमको छूते आगे निकल गई।

"मुझे धक्का दे गई है।" मिस्टर कने बोले। मुझे नारी का कुछ भी ज्ञान नहीं था। समझा कि बात कुछ जरूर है।

हम भी घाट पर पहुंच ही गए। वहाँ अभी तक दूर २ कुटी औरतें पानी भर रही थीं। मिस्टर कने गंगा से लगी एक ऊंची चट्टान पर बैठ गए। इतमीनान से उन्होंने एक रेशमी रुमाल की बंधी पोटली निकाली। मैंने पूछा—"इसमें क्या है?

"मिठाई और बुन्दों का जोड़ा।"

मैं पोटली को देखता २ [illegible] रह गया।

"उसके लिए लाया हूं। जा दे आ।"

मैं भला ऐसी बात पर ना कैसे करता। फिर अनजान था ही। पोटली ले ली। आगे बढ़कर देखा कि वह खड़ी है। भरी गगरी अकेले उठती नहीं थी। मुझे देखकर बोली— "इसे उठा देना।"

मैंने गगरी उठाई। पोटली उसे सौंपते, उंगली से मिस्टर कने को दिखाते कहा, "उन्होंने दी है।"

उसने पोटली फेंक दी, तपाक से बोली, "उनसे कहना, अपनी मा-बहिन को दे देना।"

वह आगे २ बढ़ गई। मैंने मि० कने को सब सुनाया तो वे बोले, "सुसरी नखरे करती है।"

आखिर क्या समझता। वह गाली और ये नखरे। कौनसी बात ठीक थी। उलझन में था कि हम लोग उसके पास पहुंच गये।

मि० कने, बड़े प्यार और पुचकार से बोले, "तम क्यों नहीं लिया।"

तब जो उसने ऊंचे २ स्वर में गाली देनी शुरू की तो, मिस्टर कने भाग गये। टोप छूट गया। मैं उनके पीछे २ टोप और पोटली लेकर, गेहूं की खड़ी फसल को चीरता हुआ भागा।

नारी-प्रेम का भार और मिस्टर कने की मार ही जीवन की पहिली हरियाली है।

[ २ ]

एक दिन सुबह की बात है। हमारे मेजमान की ग्यारह साल की लड़की प्रमीला ने आकर कहा "आप बड़े लापरवाह हैं।"

"क्यों ?" बात समझ में नहीं आयी थी।

"चाय पीने नीचे सब इन्तजार कर रहे हैं।"

मुझे बड़ी हँसी आई। कितनी परवाह आखिर करूँ। मन न भी करे, फिर भी घर का मान रख कर चाय पीनी क्या जरूरी है। मानो कि नींद नहीं टूटती तब क्या होता।

और नीचे कमरे में मेज पर बैठ भी नहीं पाया था, निर्मला बोली—"चाय पाओगे या कोको।"

"कुछ भी नहीं। एक गिलास ठंडा पानी।"

"ठंडा पानी।" भाभी मुझे देखती देखती बोली।

"हां! प्रमिला कहती है, मैं लापरवाह हूँ। तब निर्मला पूछती है मैं क्या पीऊँगा।"

"भाई साहब यह सिगार मुँह से छूटेगा भी या नहीं।"

भारतीय नई सभ्यता के मुताबिक निर्मला मुझे समझा चुकी है, सिगार उस कमरे में नहीं पीना चाहिए, जहां नारी साथ में हो। सिगार बुझा था, चुपके से जेब में खिसका दिया। सोचा भी यदि यह निर्मला चाहता तो, क्या बात अपने में ही दबाकर नहीं रख सकती थी।

सुबह साढ़े सात बजे चाय, 'दस पर खाना खाना', तीन बजे फिर को कों। साथ ही शाम को या तो घरकी औरतों के

साथ खरीददारी करने बाजार चलो, या फिर सिनेमा, घूमने भी कम्पनी पाना कभी कभी जाना लाजिम है। पेटीकोट-सरकार का हुक्म टाला नहीं जा सकता है।

माजी को जरूरत से ज्यादा फिक्र रहा करता है। एक दिन सुबह जरा तीन दफे खासा कि माजी ने सुन लिया। कमरे में आकर पूछा "तबीयत खराब है क्या ?

तभी प्रमिला सिर हिलाते बोली—"ठंडे पानी से नहाया करते हो ना।"

"ठंडे पानी से" मा जी ने दुहराया। "एक लड़के की हिफाजत तुम से नहीं हो सकती है। जा, थर्मामीटर लाना। टेम्परेचर देख लो। जवान लड़के लड़कियों को जुकाम लगना ठीक नहीं होता है।"

फिर जबरदस्ती थर्मामीटर लगाया गया। टेम्परेचर ९९॥ डिगरी था। बस डाक्टर बुलवाने की व्यवस्था की गई। हल्का बुखार और भी खराब चाज़ है।

निर्मला तो फौरन बोली—"लिवर खराब है, सिगार पीना भी ठीक नहीं। सब बन्द कर दो। सुबह नौ बजे तो उठा ही करते हो।"

मा जी ने कहा—"बड़ी बड़ी रात तक मत पढ़ा करो।"

"वह तो छूटने का थोड़े ही है।" निर्मला को कुछ कहना ही था।"

छोटी सी बात है, निर्मला की उम्र सिर्फ़ अठारह साल की है। अब के एफ़० ए० का इम्तहान देगी। कौलेज में पढ़ती है, और सुना है, उसकी शादी का इन्तजाम भी किसी ताल्लुकेदार के लड़के के साथ तय हो गया है, जो कि अपने पिता के मर जाने पर रियासत का मालिक हुआ है। यह युवक सभ्यता सीख लेने नगरकी एक नामी तवायफ के पास रात दिन पड़ा रहता है।

मा जी कहती हैं—"जवानी में सब ऐसे हो जाते हैं। मर्दों की जात ही ठहरी।"

प्रमिला को अपनी जीजी को चिढ़ाने में बड़ा मजा आता है। निर्मला तो अपनी सगाई की बात सुनकर गुलाबी पड़ जाती है। जैसे उसे कुछ बोलना ही नहीं आता।

तब मैं अपने मन में सोचता, न हुए हमारे बाप करोड़पति और न छोड़ गये एक बड़ी जायदाद। तब हम भी मर्द की पूरी जान पहचान लेते, नगर की किसी गण्य मान्य महिला के आगे सारा 'बसीयत' पटक कह देते, "लीजिये अब तक चले चलाइये, फिर तो जवानी भागी आ रही है।"

—'पहाड़ी'



## छः

——आकाश के अद्भुत सम्वरण। रामधनुष के नीचे प्रकृति के नित नवीन अनोखेपन में बसे हुए हम मनुष्यों का जीवन भी उस विचित्रता से खाली रह नहीं सकता है—बात है स्वाभाविक, सीधी, सरल।

कदाचित मनुष्यमात्र के जीवन में कभी एक दिन अयाचित रूप से कोई ऐसी घटना घट जाती है—जो रह जाती है चिरस्मरणीय हो कर।

जीवन में कभी ऐसे विराट विस्मय का सामना भी करना पड़ जाता है, जबकि प्रथम परिचय की छोटी बेला में रह जाना पड़ता है—विमूढ़, अवाक। और कभी जीवन में अन्त तक वह विस्मय एक विस्मय ही होकर रहा आता है, चिर-स्मरणीय होकर।

सन् तो स्मरण नहीं, किन्तु उस घटना को प्राय युग सा बीत गया इतना सही ही है। लिख लिया था पगला म प्रथम

उपन्यास—"सम्मोहिता"। बात झूठ नहीं है कि लेखक अपनी रचना को लोकनेत्र से बाहर रखना चाहता है। उसे लज्जा व सकोच की प्रवृत्ति में छिपाने की वृत्ति रहती है, प्रबल। रहता है एक प्रबल आकर्षण, एक मोह अपनी उस रचना पर। कदाचित उस स्थिति में उसका भावना, कल्पना, लेखनशक्ति, सीमित रहती है। शायद इसलिये मोह उत्पन्न हो जाता हो। चाहे यह कुछ भी रहा हो। बात यह है कि इन सब बातों से मैं खाली नहीं थी।

उस समय थी कलकत्ता में। मेरे मामा अमर कवि श्रद्धेय सत्येन्द्रनाथ की दृष्टि आकृष्ट हो गई—एक सन्ध्या वेला में—उपन्यास पर। और इसके बाद जो होना था वही होकर रहा। प्रचुर आशीर्वाद और उत्साह से मेरी लेखनी भर दी गयी। मामा जी ने स्वयं उपन्यास को संशोधित किया।

उपन्यास जिस दिन प्रेस में दिया जा रहा था—उस दिन मैं जबलपुर लौट रही थी। प्रणाम करते समय मामा प्रशान्त स्निग्ध हँसे। बोले "घबराना मत चिड़िया, यदि मैं न रहूँ। फिर भी तेरा उपन्यास गुमेगा नहीं।"

विस्मित, रोमांचित, मैं स्तब्ध हो रही—यह साहित्य के ध्रुवतारा मेरे मन का बात जान ही कैसे गये? क्या यह वास्तव में ही अन्तर्यामी हैं? प्रश्न उठा पल पल में और उसके ...

कुछ सहमी सी बोली–"आप न जाने क्या कह रहे हैं—"। वीच ही में वह हंसे। वही शान्त, उदार, स्नेही हंसी —"तेरी रचना मुझे अपने से भी प्रिय है।"

घर लौटी। एक नवीन उत्साह लिए लेखनी को संभारा। रात-रात भर बैठी लिखती रहती। लगता मेरी लेखनी पर उनका आशीर्वाद झुका पड़ रहा है।

शायद आठ दिन भी न बढ़े होंगे। रात अधिक निकल चुका था। घर मेरा निद्रा की गोद में अचेतन था। पलग पर बैठी लिख रही थी। लैम्प के प्रकाश को रोकने के लिए उसके सामने एक किताब रख दी थी। तन्द्रा से नेत्र झुक रहे थे।

क्लान्ति से कलम रख कर सिर उठाया। फिर उस दृश्य के सामने, विमुग्ध विस्मय से नेत्र, अपने आप विस्फारित हो रहे। अनतिदूर की दीवाल पर एक छाया थी। हां, और वह मेरे मामा जैसी ही आकृति थी। अस्पष्ट, धुंधली सी। परन्तु मेरी पुस्तक को उस पाण्डुलिपि को मैंने स्पष्ट देखा। उसे वह छाया जैसे मेरी ओर बढ़ाए हुए थी।

मैंने देखा और फिर देखा। नहीं, वहां पर कुछ भी नहीं था। अवस्था उस समय कुछ कम होने के कारण शायद भय कुछ ज्यादा था। जब माता जी को नींद से जगाया, तब मैं कांप रही थी।

बात सुन कर वह हंसी, बोलीं — "तू दिन रात किताब की ही सोचती रहती है, इस लिये ऐसा दिखा होगा।"

किन्तु प्रात काल जब वह तार पहुंच गया मामा की मृत्यु का सन्देश ले कर, तब घर वालों के विस्मय की सीमा न रही।

और मेरा विस्मय तब सीमा रेखा को भी लांघ गया, जब कलकत्ता पहुंच कर मैंने सुना, मृत्यु के एक दिन पहले मेरा उपन्यास उन्होंने प्रेस से मंगवा लिया था और उसे सुरक्षित रख दिया था।

इस बात को जाने कितने ही दिन बीत गये। किन्तु फिर भी वह घटना, वह दृश्य, नित नवीनता के साथ रात की अकेली में मेरे मन को कभी आछन्न भी कर लिया करता है।

—ऊषा मित्रा।



## सात

घुप घनी, सजग अन्धेरी रात्रि है। चारों ओर सन्नाटा है। मूसलाधार पानी पड़ रहा है। और उस लम्बे, एकाकी ऊसर में हमारी बैलगाड़ी, धीमी गति से, आगे की ओर बढ़ रही है। कभी कभी, जब चंचल वायु वृक्षों से गलबाहें डाल, आँख मिचौनी खेलती है, तो पत्तियों का गम्भीर स्वर, एक विचित्र प्रकार का भय उत्पन्न कर देता है। हम लोग काँप उठते हैं। —गाड़ीवान परेशान है। रास्ता सूझता नहीं। लेकिन मालिक के भय के आगे, अन्धकार का भय उस के निकट कुछ नहीं है। मामआमा ऊपर तना हुआ है, परन्तु फिर भी वायु के साथ नन्हीं नन्हीं बूंदें हम लोगों के निकट आ जाती हैं।

अब हम लोग एक ऐसे स्थान से गुजर रहे हैं, जहाँ केवल जंगल ही जंगल है। अंधेरिया यहाँ और भी सघन हो उठी है। मुझे अपना हाथ नहीं सूझता। चल आगे नहीं

पड़ते। गाड़ीवान उन्हें बराबर पाट रहा है। और यदि वे पड़ते भी हैं, तो १० गज के फासले पर फिर ठहर जाते हैं। वह बोला— 'भैया, अब, इस समय, आगे बढ़ना ठीक नहीं। ऐसी बरसाती, काली रात मे रास्ता नहीं सूझता।" मैंने अपनी 'टार्च' की रोशनी से काम लेना चाहा, पर व्यर्थ। बरसाती रात में वह काम न देगी, ऐसा मालूम हुआ। मैंने गाड़ीवान को धैर्य बधाते हुए कहा— "नहीं, नहीं चल। बैलों को बढ़ा। ऐसी रात में यहां रुक़ा क्या करेगा? कहीं कोई बदमाश ?"

अभी मेरी बात पूरी भी न हो पाई कि बगल में बैठे मेरे मामा के सिपाही— ठाकुर साहब बोल उठे— 'और यह भवानी किस लिये है?' उन्होंने अपनी बन्दूक की ओर इशारा किया।

हंसकर मैंने कहा— 'इससे न इन्द्र भगवान ही डरेंगे और न बरसात ही बन्द होगी?'

'मतलब?'

'मतलब यह कि तुम्हारे छर्रे वहां तक नहीं जा सकेंगे।'

'बदमाशों तक तो जा सकेंगे?'

'लेकिन ऐसी रात्रि में तुम उन्हें अपना शिकार ही किस प्रकार बना सकोगे?'

वे चुप होगए। कुछ देर ठहर कर बोले मैं फौजी आदमी हूं, समझे आप? चीन की उस लड़ाई में, मैं बदमाशों बदमाशों की परवाह नहीं करता। —बढ़ा रे आगे को गाड़ी।' कहकर, तम्बाखू ताली से पीट, अन्धेरे में ओठों के नीचे रख लिया।

इस ऊसर के सम्बन्ध में कई बार, अनेक किस्म की घटनायें सुन चुका हूं। कभी किसी ने कहा, 'यहां बदमाश लगते हैं।' किसी से सुना— 'रात को यहां से कोई उधर ही नहीं पाया।' लोगों के इस प्रकार के वाक्य, इस समय, मेरे अन्दर अवश्य नाच रहे हैं, भले ही ठाकुर साहब मस्त बैठे हों, निडर। कारण, तोप का गड़गड़ाहट और भीषण रक्तपात की अपेक्षा इस एकान्त से न डरना स्वाभाविक है। परन्तु मैं तो अन्दर ही अन्दर कांप रहा हूं पर बाहर से ऐसा बहादुर हूं, मानो महाराणा प्रताप!

'किसकी गाड़ी है? ठहरो!'—एक ओर से आवाज आई।

गाड़ीवान कांप उठा। बोला—'भैया, बदमाश लगते हैं।'

मैंने कहा—'ठाकुर साहब, गोली भरिए।'

बन्दूक में गोली भरी गयी। ठाकुर साहब दृढ़ थे। बोले—'आप पीछे आइये, मुझे आगे बैठने दीजिये।' मेरी जान में जान आई।

कड़क कर ठाकुर साहब बोले—'होशियार रहना दोस्त, मैं सत्री हूं। तुम्हारी जान खतरे में है।' इतना कह लेने के पश्चात् गाड़ीवान से कहा—"बढ़ा गाड़ी! आने दो सालों को! देख लूंगा! मैं भी चार बन्दूकों के साथ हूं।"

गाड़ी आगे बढ़ी। — बढ़ती ही गयी। ठाकुर साहब बोले—'साले कच्चे बदमाश थे, भैया।'

'नहीं। सो तो हैं, कातिल!'

भैया की बात, मैंने सैकड़ों को देखा है। आज भी उनके सामने बदमाश बन जाय, फिर उनकी नानी मर जायगी। कभी आगे न आयगी।'

पानी और झमाझम बरसने लगा।

ठाकुर बोले—'बढ़ाए चल, बढ़ाए चल।'

'ऐंय! यह क्या?' अचकचा कर मैंने पूछा।

'चौंकते हो क्या?' ठाकुर साहब बोले।

'नहीं-नहीं, इधर से यह कैसी आवाजें आ रही हैं?'

'रोक दे गाड़ी!' ठाकुर साहब ने गाड़ीवान को हुक्म दिया।

गाड़ी रुक गयी। सबने सुना, ऊपर के एक ओर से

"चटट, चटट, चटट-चटट!"

'फौजदारी हो रही है।' गाड़ीवान बोला।

'मुझे भी ऐसा ही लगता है। ये लाठी पर लाठी टूटने की आवाजें लगती हैं।' मैंने कहा।

ठाकुर बोले—'हूं, तुम रास्ता भूल गये...।'...

कि इसी समय, हम लोगों ने देखा — एक काली मूर्ति जैसा मनुष्य हम लोगों के आगे खड़ा है। उसके हाथ में लालटेन है। बैल ठिठक गये। मैं अपने आप को उस समय मृत्यु के बहुत निकट पा रहा था, पर होश अब भी कायम थे। ठाकुर साहब बोले — 'कौन? तुम हो कौन? दूर हो, वरना अभी बन्दूक के घाट से ...।'

'अच्छा! एक तो रास्ता बनाऊं और दूसरे । तुम यहां कहां आ गए? आओ इधर आओ!' कह कर वह बैलों के नथुनों में पड़ी रस्सी को अपनी ओर खींच ले चला।

ठाय, ठाय!! – ठाकुर साहब ने दो फायरें कीं।

और देखा—लालटेन एक वृक्ष की डाल पर जा टंगी है। मनुष्य मूर्ति गायब है।

ठाकुर साहब बोले—"घबराना नहीं भैया, देखे आओ। मैं तुम्हारे साथ हूं। ये साले भी क्या कहेंगे किसी क्षत्री का बच्चा हूं मैं!"

गाड़ीवान के जैसे काठ मार गया हो। बहुत डाटने डपटने पर वह आगे बढ़ा।

'ठाकुर हो, ठाकुर हो ' सैकड़ों आवाज़ों ने जैसे हम लोगों को घेर लिया।

'यहां सब ठाकुर ही ठाकुर हैं। किस ठाकुर की चाह है?'

कोई उत्तर नहीं। फिर वही—

चटट्-चटट्, चटट् चटट्! और 'ठाकुर हो, ठाकुर हो ।'

अब हम लोग एक ऐसे स्थान पर पहुंच चुके हैं, जहां न तो बरसात है, और न जंगल ही। १५० गज की दूरी पर एक टेण्ट-सा लगा है। खूब श्वेत प्रकाश है। आस पास की धरती

तक जगमगा रही है। हम लोग स्टेशन की राह खोजने के चक्कर में हैं।

और आगे बढ़े कि गाड़ीवान चिल्ला उठा—'अरे बाप रे बाप! बहुत बचे। आगे तो कुआ है।'

भय के कारण मैंने अपने सारे बिस्तर अपने ऊपर ओढ़ लिये थे। अन्दर से सब कुछ सुन रहा था। तब ज्यादा आयु न थी। पढ़ता था। और अनायास ही, उस दिन,स्टेशन केलिये चल देना पड़ा था, यद्यपि चलते समय मामा ने कहा था—'मानसिंह उस नगरवाले ऊसर से न जाना। क्योंकि रात को वहां ।'

बैल खोल दिये गये। रात भर उसी स्थान पर डेरा डला रहा—मैं तो सो गया था। ठाकुर साहब व गाड़ीवान रातभर रक्षा के लिए जागते रहे। सुबह हुआ तो देखा—न कहीं कुआ है, न ।

आगे लोगों से मालूम हुआ - यह स्थान बहुत खतरनाक है। कई व्यक्तियों को भूतों ने मार डाला है। अक्सर ऐसा होता ही रहता है।—पहले—पुराने—समय में वहां एक बहुत बड़ी फौजदारी हुई थी। कई व्यक्तियों की जानें गई थीं। अपने पति को बचाते समय एक स्त्री भी काम आई थी।

बात काटकर मैंने पूछा—"और 'ठाकुर हो, ठाकुर हो' क्या बात है ?"

हां, यह फौजदारी दो क्षत्री दलों में हुई थी। मैंने कहा न कि एक स्त्री अपने पति को बचाते समय मारी गयी थी। वह

प्रेत के रूप में प्रकट हुई है, ऐसा ही लोगों का विश्वास है, और अक्सर वह अपने पति का नाम ले लेकर बुलाती रहती है—'ठाकुर हो ।'

मैं दिन में भी सन्न सा खड़ा रह गया । रोमांच हो आया। डर के आँसू छलछला आये। फिर उस दिन हमें गाड़ी नहीं मिल सकी। परन्तु उस दिन वह चीज मिली, जो शायद जीवन भर न मिल सके आज भी रात्रि के घने अन्धकार को देखकर वह घटना आँखों के समक्ष नर्तन कर उठती है और कानों से पूछिये उन्हें क्या सुनाई देता है—ठाकुर हो ।'

—लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी।



## आठ

घटना सन् ३३ की है। ११ जुलाई को मैंने बाबा से कहा कि कालेज की शिक्षा के लिये मैं काशी विश्व विद्यालय जाना चाहता हूँ। उत्तर बड़ा विचित्र था—

"तुम जाते तो हो पर हम शायद तुम्हें फिर न देख सकें।"

"ऐसा कहाँ हो सकता है, बाबा?" और मैं इसे उनके वात्सल्य की कोई सनक ही समझा था।

काशी पहुँच कर विश्व विद्यालय में बड़ी कठिनता से मेरा दाखला हो सका। वह सब झमेले और दिक्कतें एक स्कूली विद्यार्थी के लिये बेशक पहाड़ हैं। मैं अब भी कभी उन कड़वी, पर तथ्यमय, घटनाओं को प्रेम के साथ याद कर लेता हूँ। कुलपति मालवीय जी का आश्वासन, आचार्य भृगु की दया, श्री दे का गुरुत्व, इस जीवन में भुलाये न भूलूँगा।

पर, तो वह घटना कहना शेष ही है।

ठीक तारीख स्मरण नहीं। सम्भवत २४ जुलाई रही होगी, मुझे पहले जाड़ा-बुखार आया और धीरे २ वही टायफाइड में बदल गया। प्रतिदिन सुबह शाम डाक्टर का आना और सारे दिन मेरा छात्रालय में ही रहना होता था।

बिरला छात्रालय के 'बी' क्लास के ५५ नम्बर कमरे का जीवन मेरे सारे जीवन से अलग रहा है।

३० जुलाई की सन्ध्या, शाम को टेम्परेचर १०२ डिग्री था और डाक्टर ने दिन गिन कर कहा— "अभी १ सप्ताह और भी लग सकता है।" दवा की व्यवस्था कर के डाक्टर चला गया।

रात को जल्दी ही मैं सोगया था। एकाएक आंख खुल गई। देखा ३ बजा है। और, साथ ही सरहाने की खुली खिड़की में से मैंने देखा कुछ कुछ पानी भी गिर रहा है। रात बिलकुल अंधेरी है, और साथ ही मैंने देखा, बापा का कटा सिर, वही चश्मा और आंखें, मुंह, मूंछें, सब कुछ वही, वहां उस खिड़की के ठीक बीच में लटक रहा है, और मैं भयभीत सा होकर भी दृढ़ बना रहा। मैंने चाहा कि पास में सोये अपने साथी को जगालूं, पर वह स्वप्न लोक में भ्रमण कर रहा था। और न जग सका। वह कटा सिर लगभग ५ मिनिट तक इन मेरी जगती आंखों के सामने लटका रहा। मैं दृढ़ता और विश्वास से कह सकता हूं कि तब मैं बिलकुल जाग रहा था, सोया न था।

फिर मैं सो न सका। घर पर अनिष्ट की बात मेरे मन में रह-रह कर आने लगी और थोड़ी देर पड़े रह कर मैं उठ पड़ा। शौच हो कर माधो को पुकारा। माधो मेरा बड़ा खास और श्रद्धालु सेवक था वह सन् ३४ में मेरे काशी से आने के १ मास बाद ही मर गया। और जिसकी याद मुझे अब तक छेदती रहती है।

माधो घबरा गया। मैं अपने आप उठ-बैठ नहीं सकता था और तब मैं बराडे में घूम रहा था। उसने कहा — "बाबू अन्दर चलिये-" उसे मेरी अवस्था पर भय हो रहा था, पर मैंने स्वामित्व से कहा — "मेरे नहाने को गरम पानी, आधा घंटे में, बाथरूम में पहुँच जाना चाहिये।" माधो यह भी जानता था कि छात्रालय का डाक्टर ७ बजे से पूर्व न आवेगा तथा उसके अतिरिक्त कोई भी नहाने से रोकेगा तो भी मैं न मानूँगा। खैर, किसी तरह ज़िद और नादानी से मैं नहा लिया। ६ बजे टेम्प्रेचर १०३ डिगरी था। अलीगढ़ को आने वाली ट्रेन १ बजे चलती थी और डाक्टर के मना कर देने पर भी मैं उसी ट्रेन से चल देने को बिलकुल तैयार था।

अलीगढ़ सुबह ५ बजे वह ट्रेन पहुँची और ट्रेन में टेम्प्रेचर १०४ डिगरी तक हो गया था। अलीगढ़ उतर कर मैं अपने एक मित्र के यहाँ चला गया। अलीगढ़ से मेरा गाँव विजयगढ़ केवल १८ मील है। पर ७ मील कच्चा रास्ता है, और वर्षा ऋतु में तो हमारा गाँव एक टापू बन जाता है, इसी कारण

से मैं सोच रहा था कि किस प्रकार अपने गांव में जल्दी से जल्दी पहुंच सकता हूं। बुखार इतना तेज था कि उठने में भी मुझे चक्कर आते थे और कभी मुझे लगता था कि कहीं यह पत्र में बताए यह ग्रामीण ज्योतिषी की भविष्यवाणी, कि मैं वहीं उसर न पाऊंगा, सत्य ही न निकले। मुझे अलीगढ़ में घर की कुशल देने वाला कोई न मिला। वहां से तांगे पर चल कर करीब २ बजे मैं घर पहुंचा।

घर में बड़ी अव्यवस्था थी। बाहर के,बाबा और पिताजी के बैठने के कमरे खाली पड़े थे। मुझे अनिष्ट का भान न जाने क्यों बढ़ता ही गया कि बिना कुछ पूछे मैं बुरी तरह से रोने लगा था। अन्दर से पिता जी, दादी, चाचा और सब आए और बिना कुछ कहे वह भी अपने आप न रोक सके। बात अब साफ थी।

पीछे मुझे पता लगा कि ठीक उसी समय कल रात ३० जुलाई को ३ बजे बाबा इस दुनिया से बाहर कर गए। जब कि, उनके अन्तिम दर्शन मैंने अपने घर से ४०० मील दूर बैठ कर भी कर लिये थे।

अब भी लिखते २ मेरा मन भारी हो आया है।

—अदयकुमार



# नौ

एक पुरानी कहानी कहने चला [illegible] । बात उन दिनों की है जब भावों को तोड़-मरोड़ कर शब्दों का माया जाल रचना नहीं सीखा था । कथा कारों के स्वप्निल संसार में भटकने की भी कभी कोशिश नहीं की थी । लेकिन पता नहीं किस दैवीशक्ति ने एक दिन सहसा मुझे उसी संसार में जा पटका ।

कौलिज के दूसरे साल में पढ़ता था । उपन्यास और कहानियां पढ़ने का शौक लग चुका था और कल्पना भी पर फड़फड़ाने लगी थी । लेकिन कलम पकड़ना तो एक नौसिखिये की भांति भी सीख न पाया था । इस लिये कभी टूटी-फूटी लकीरें खींचने का भी साहस न किया था ।

उस दिन मुझे लाहौर से अमृतसर अपने एक निकट-सम्बन्धी के यहां जाना था । गाड़ी के जिस डिब्बे में मैं सवार हुआ, उस में भीड़ कुछ अधिक नहीं थी । इस लिये मेरी इच्छा-नुसार मुझे खिड़की के पास बैठने की जगह मिल गई । मेरे

पास वाले डिब्बे में बाहर भीतर बहुत चहल-पहल थी। एक दुबला-पतला युवक फूलों से लदा खड़ा था। उसके इर्द गिर्द कुछ स्त्रियां और पुरुष थे सिर पैर की हांक रहे थे। उनमें से एक-दो बड़े बूढ़े चिल्ला चिल्ला कर शिक्षा और उपदेश के वाक्य दुहरा रहे थे। ऐसा मालूम देता था कि युवक महोदय विलायत यात्रा के लिये जा रहे हैं। एक-दो क्षण मैं उस दृश्य को देखता रहा। फिर सहसा मेरी दृष्टि उन से कुछ ही दूरी पर खड़े एक कुली पर जा पड़ी। उसके कपड़े थे तो कुलियों के से लाल-लाल, पर थे बहुत ही स्वच्छ और निखरे हुए। उसका रंग गोरा था, आंखें बड़ी बड़ी और ललाट उन्नत। वह मुस्कराते हुए नेत्रों से विलायत यात्री और उसके साथियों की ओर देख रहा था। उसके होठों पर एक व्यंग्य-पूर्ण हंसी खेल रही थी। ऐसा मालूम देता था मानो वह उस दृश्य को एक दिल्लगी समझ रहा हो। ऐसा अनूठा कुली मैंने कभी नहीं देखा था। इस लिये उत्सुकता उससे बातचीत करने के लिये तड़प उठी। मैंने संकेत से उसे अपनी ओर बुलाया। इस से पहले कि वह मेरी ओर बढ़े, एकाएक झटका दे कर गाड़ी हो चल दी। वह जहां का तहां खड़ा मेरी ओर देखता रह गया।

रेलगाड़ी पटरी को चीरती बल खाती हुई भागने लगी। इसकी घरघराहट के शब्द ने चारों ओर आधिपत्य जमा लिया। परन्तु मेरा ध्यान तो उस कुली पर ही अटका हुआ था। उस के

व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द मेरा मस्तिष्क रोमांस के ताने बाने बुनने लगा। उसके घर और बाहर के धुंधले से चित्र मेरे चारों ओर मंडराने लगे। आहिस्ता आहिस्ता चित्र स्पष्ट होते गये और अपने आप ही एक शृंखला में बंध गये। गाड़ी अभी कुछ ही मील गयी थी कि उन चित्रों ने एक रोचक कहानी का रूप धारण कर लिया। गाड़ी के अमृतसर पहुंचते पहुंचते तो उस कहानी का एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द निर्मित हो कर मेरे मन पर अंकित हो चुका था। उसे झट-पट लेखनी-बद्ध करने के लिये मैं बेचैन हो रहा था।

अमृतसर स्टेशन पर गाड़ी के ठहरते ही मैं भाग कर बाहर निकला। तांगा पकड़ कर सीधा अपने सम्बन्धियों के यहां पहुंचा। योग्य अभिवादन के बाद मैं उतावली से कलम-दवात और कागज ढूंढने लगा।

'क्या ढूंढ रहे हो?' सम्बन्धी महोदय ने पूछा।

'कागज और कलम दवात।'

'क्यों?'

'कुछ लिखना चाहता हूं।'

'तुम्हारे सिर पर कोई भूत तो सवार नहीं हो गया? जरा दम तो ले लो। कुछ खा पी तो लो।'

'नहीं। खाना-पीना सब पीछे होगा। कृपा करके मुझे कागज, कलम दवात ढूंढ दीजिये।'

कहां से ढूंढ कर एक टूटी-फूटी पैंसिल और एक कापी जिसके पृष्ठों पे एक ओर बच्चों ने ड्राइंग कर रखी थी उन्होंने मेरे हवाले कर दीं। मेरे लिये यही गनीमत थी। उस कापी और पेंसिल को ले कर म मकान के एक कोने में छिप कर जा बैठा और अपनी कहानी लिखने लगा।

मेरी कलम सरपट दौड़ने लगी। शब्द और वाक्य बिना प्रयास किये ही उपयुक्त स्थान पर बैठने लगे। कहानी अपने आप विकसित होने लगी। प्रधान घटना ( Climax ) कब आयी और चली गयी, मुझे पता भी न लगा। कोई घंटे, डेढ घंटे म अंदर मैंने सारी कहानी समाप्त कर दी।

जब मैं कहानी ले कर उस एकांत कोने से निकला तो मेरे चेहरे पर शान्ति के चिन्ह आ चुके थे। सम्बन्धी महोदय मुस्करा कर बोले, 'अब तुम कुछ होश में मालूम देते हो। क्या लिख कर लाये हो?'

'एक कहानी।'

'कहानी?' उन्होंने चकित-नेत्रों से मेरी ओर देखा 'तुम कब से कहानी कहने लगे हो?'

'आज से! सुनोगे?'

'जरूर।'

जब मैंने कहानी शुरू की तो गृह-स्वामिनी भी आ गई। म कहानी कहता चला गया और वे दोनों मंत्र मुग्ध की तरह

बैठे उसे सुनते रहे। कहानी खत्म होने पर दोनों के चेहरों पर आश्चर्य नाच रहा था। अनायास दोनों के मुह से निकला— 'यह कहानी सचमुच तुमने लिखा है, क्या?'

'हां आपके सामने ही तो लिख कर लाया हू।'

'खूब रोचक है।' गृहस्वामी ने कहा।

'इसे किसी अखबार में भेज दो।' गृहस्वामिनी बोलीं।

'क्या छप भी सकती है?' मैंने शकित स्वर में पूछा।

'अवश्य।'

आखिर यही तय हुआ कि कहानी किसी पत्रिका में भेजी जाए। उन दिनों कानपुर की 'प्रभा' बहुत सुन्दर निकल रही थी। इसलिये निश्चय यह हुआ कि पहले उसे ही आज माया जाए।

इस से दो तीन दिन बाद उस कहानी की ठीक तरह से पाठ लिपि बना और "कुली" शीर्षक दे कर मने उसे 'प्रभा' के सम्पादक महोदय के पास भेज दिया। चौथे पाचवे रोज ही उसकी स्वीकृति का पत्र आ पहु चा और फरवरी १६२२ की 'प्रभा' में यह प्रकाशित भी हो गई।

इस घटना को आज अठठारह वर्ष होने को आये हैं। इस लम्बी अवधि में मैंने कई कहानिया, नाटक, समालोचनाए आदि लिखीं, पर जिस सहज-स्वाभाविकता के साथ मेरे मस्तिष्क में ढल कर मेरी यह पहली कहानी निकली थी वैसा फिर

लाख सिर पटकने पर भी न हो सका। यह अविश्वसनीय स्मृति कहां से और कैसे आ गई, यह रहस्य आज तक भी सुलझा नहीं पाया हूं। उस कहानी की निर्माण-गाथा न भूला हूं, न कभी भूल सकता हूं। और उस कहानी के लिये जो ममता मेरे हृदय में है वह वर्णन से परे की चीज है।

"यदि यह बात है" मेरा यह लेख सुन कर श्रीमती शर्मा बोलीं, "तो यह कहानी तुम्हारे संग्रह में स्थान क्यों नहीं पा सकी।"

"इसलिये कि उसकी हल्की से हल्की विपरीत समालोचना भी मेरे मन में हाहाकार छेड़ सकती है। फिर उसे समालोचकों के निर्दय हाथों में कैसे सौंप दूं, तुम्हीं बताओ।"

"बात अच्छी नहीं" वह खिलखिला कर हंसी, "यद्यपि इसमें कवित्व अवश्य है।"

मेरे लिये यही बहुत था।

—पृथ्वीनाथ शर्मा



## दस

उस घटना को हुए बरसों बीत गये, पर वह दिन क्या कभी मुझे भूलेगा। दिन ढल चला था और उसके साथ साथ ही मुझे अपनी आशा भी ढलती जान पड़ती थी। पक्षी गण अपने अपने घरों को लौट रहे थे। उस सूने जंगल के पास गली में जो धुंधला प्रकाश चमक रहा था, वह भी धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। मुझे ध्यान आया कि दूकानदार खाना खाने के लिये घर लौट रहे होंगे। भाजी की टोकरियोंवाली, टोकरिया ले कर अपने घरों को चल दी थीं। उस शून्यता में मैं ही एक षोडशवर्षीय बालिका के साथ खड़ी अपने सूने पथ को निहार रही थी। रात्रि के अंधकार के साथ-साथ मेरे हृदय का अन्ध कार भी घना होता जा रहा था। दूर क्षितिज पर दृष्टि डालने से वह निकट जान पड़ता है, पर जितना ही हम उसके समीप पहुंचने की चेष्टा करते हैं, वह उतना ही हम से दूर होता जाता है। इसी प्रकार मेरा घर मुझे बिल्कुल पास जान पड़ता,

पर जितना अधिक मैं उसके निकट पहुंचने की चेष्टा करती थी, उतना ही अधिक वह मुझ से दूर होता जा रहा था। यद्यपि चन्द्रली में ग्रीष्म का सन्ध्याकालीन दृश्य बहुत ही सुहावना लगता है, और उस दिन भी वैसा ही रहा होगा, उसी तरह आकाश में चन्द्रमा मुस्कराया होगा, तारे भी खिलखिलाये होंगे; परन्तु मेरा ध्यान इधर कहां ? धीमी धीमी ठंडी हवा चल रही थी, पर मुझे तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों मेरा दम घुट जायगा। दूर से भयंकर शब्द सुनाई देने लगे थे। चाहे वह आवाज साधारण ही हो, पर उस दिन तो मेरा मन रह-रह कर कांप उठता था। मैं स्वयं थक कर चूर-चूर हो रही थी, और साथी बालिका — वह तो मुझ से भी छोटी थी। मैंने कहा— शान्ति चलो तुम्हारे घर ही लौट चलें। मुझे रास्ता दिखाने आ कर तुम भी आफत में फंस गयीं।

दोनों चल दिये। १ घं०। हो गया। न जाने कहां-कहां हमने चक्कर लगाया, और भिन्न भिन्न गलियों की खाक छानी। पर हमें उसका घर भी न दिखाई दिया। मेरा दिल डूब रहा था, और हम दोनों में ही बोलने की शक्ति नहीं रह गयी थी। सबेरे १० बजे से ले कर हम बराबर इधर से उधर घूम रहे थे, और दिन भर की धूप हमने अपने सिरों पर ली थी। मुझे क्या करना चाहिये ? मेरे दिल में प्रश्न उठा, पर कोई सन्तोष जनक उत्तर न मिला। मेरे छोटे से मस्तिष्क ने सोचना बन्द

कर दिया था और मैं शान्ति का हाथ पकड़ मशीन की तरह चली आ रही थी। सहसा सामने की तरफ रेल की लाइनें देख कर मैं चौंक पड़ी। हम शहर पार करके जंगल में आ गये थे। सूर्य पश्चिम में डूब रहा था, और वृक्षों पर पक्षियों का कलरव सुनाई दे रहा था। हमने न खाना खाया था, न पानी पिया था। और न सारे दिन में जरा भी विश्राम लिया था। शान्ता रोने लगी। मेरी आखों के आगे अंधेरा छा गया। इस जीवन में क्या कभी घर पहुंच सकूंगी, मने सोचा, और मुझे भी रोना आ गया। माता पिता और भाई बहिनों की सूरतें मेरी आखों के आगे घूमने लगी, और जी में आता किसी तरह उड़ कर उनके पास पहुंच जाऊं। पर कोई उपाय न था। हमारे पैरों में छाले पड़ पड़ कर फूट गये थे, होंठ सूख रहे थे और मुंह पर हवाइयां उड़ रही थीं। पग पग पर ठोकरें खाते हम दोनों चले जा रहे थे, रेल की लाइन के साथ साथ। सोचा स्टेशन आ जायेगा। फिर ख्याल आया कि यदि गलत दिशा में चल रहे होंगे, तो , तो क्या होगा? मेरे मस्तिष्क की नसें चटखती सी पड़ने लगीं। मुझे ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे मेरे दिल की धड़कन बन्द हो जायगी, और मैं वहीं गिर पड़ूंगी। पर विपत्ति के समय मनुष्य में गजब की ताकत आ जाती है। मैंने अपने को संभाला और लौट पड़ी। और फिर उसी गली के कोने पर आकर हमारे पैर रुक गये। पर अन्दर जाने का साहस न हुआ। न जाने हम कितनी बार पागलों की तरह वहां से स्टे

शहर की तरफ गये और आये। दूकानदार खाना खा कर वापिस आ चुके थे। वह सब के सब मुसलमान थे और मुसलमानों के प्रति एक भयानक आशंका मेरे दिल में समायी थी। एक एक करके उन छोटी छोटी दूकानों में दीपक जल गये, पर मुझे ऐसा लग रहा था मानों, अन्धकार रूपी राक्षस अपनी लाल-लाल विशाल आँखें फैलाये हमें निगलने को दौड़ा चला आ रहा हो। वह जंगल जिसने कितने ही पशु पक्षियों को शरण दे रक्खी थी, वही छोटी सी दूकानों वाली गली, हमें लोहे के पिंजरे के समान दिखायी देता था, उसमें से निकलने का कोई मार्ग दृष्टिगोचर न होता था।

हम छोटी छोटी बच्चियों का यहां कोई भय न था, पर मुझे ऐसा अनुभव होता था, कि सब की आंखें हमारी तरफ लगी हैं, और वह हमें उड़ा ले जाने के बारे में कानाफूसी कर रहे हैं। पर जब कोई चारा न रहा, तो मैं साहस करके उस गली के अन्दर घुसी। सब लोग आश्चर्यभरी आंखों से हमारी तरफ देखने लगे। मैं एक बूढ़े दूकानदार के पास आ कर ठहर गयी। पर मुझ में रास्ता पूछने की भी शक्ति नहीं रह गयी थी। उसने स्वयं ही पूछा — "तुम इतनी घबरायी हुई क्यों हो बेटी? तुम्हारा घर कहां है?"

सहानुभूति के दो शब्द सुनते ही मुझे रोना आ गया। मेरी हिचकियां बंध गयीं और मेरे मुंह से एक भी शब्द न

निकला। यह अपने साथी से धीरे धीरे कुछ बातें करने लगा। मेरे दिल में फिर सन्देह का ज्वार आ गया। जरूर यह हमें उड़ा ले जाने के लिये षड्यन्त्र रच रहा है। मेरे पैरों तले की धरती खिसकने लगी। इतने में बूढ़े ने फिर मेरी तरफ देखा और मुझे समझाते हुए बोला — "रोओ मत बेटी। चलो, मैं तुम्हें पहुंचाये देता हूं। कहां जाओगी?"

बड़ी मुश्किल से कांपती हुई आवाज में मैंने कहा — 'नहर का पुल' और शान्ति का हाथ पकड़े हुए मैं उसके पीछे पीछे चल दी। आशा और निराशा की तंग घाटी में अन्धकार का सहारा लिये मैं चुपचाप चली जा रही थी। पल पल पर शंका उठती थी यदि उसने घर न पहुंचाया तो। ठगों की जबान बड़ी मीठी होती है।

आखिरकार नहर के पुल पर बिजली की रोशनी मुझे दिखायी दे ही गयी। मेरा दिल बांसों उछलने लगा। उस रोशनी, उस सड़क, उस पुल को मैं रोज ही देखती थी, पर आज उन में जो विचित्र आकर्षण था, उस की समता न थी। मुझे उस समय इतनी खुशी हुई, जितनी जीवन में कभी न हुई होगी।

बूढ़े ने पूछा — "अब तो बतादो, कि तुम यहां अकेली कैसे पहुंच गयी थीं। तुम्हारा घर कहां है?"

अब कहीं मेरी जुबान खुली और मैंने बताया कि डाक

बगले के सामने हमारा बगला था, और जैनियों के मेले में मैं नौकर से अलग हो गई थी।" वह हस कर बोला —

"जहाँ वानली हो बिटिया। पहले ही हमसे रास्ता क्यों नहीं पूछ लिया था।"

सचमुच ही यदि मेरे हृदय में मुसलमानों के प्रति इतना सन्देह न होता, तो मुझे इस प्रकार सारे दिन भटकना न पड़ता। अब भी जब कभी साम्प्रदायिक दगा होता है, और मुसलमानों के प्रति विद्रोही भावों से हृदय भर उठता है, तो मुझे वह घटना याद आए बिना नहीं रहती। उस दिन मैंने समझा कि मानव-हृदय प्रेम का स्थान है, और कोई धर्म किसी जाति विशेष को इस दैवी गुण से वञ्चित नहीं कर सकता।

—कुमारी दमयन्ती



## ग्यारह

व्यावहारिक जीवन में [illegible] से बचकर सुखी रहना, यह दोनों ही बातें [illegible] अवश्य हैं। बाह्य जीवन में, अधिकांश [illegible] परन्तु जीवन में कौन सुखी है और [illegible] का निर्णय करना सरल नहीं। [illegible] को अपने ऊपर संतोष के साथ-साथ [illegible] और थे दो शरीर एक प्राण, जैसा कि [illegible] या सफल दाम्पत्य जीवन में [illegible] दुःख के साथी, क्षण भर का वियोग [illegible] उठता — संसार में यदि प्रेम [illegible] उसकी पराकाष्ठा थी।

उस दिन कमरे में [illegible] गर्मी है एक गिलास पानी [illegible]

मैंने देखा उनके हृदय को कुछ अधिक उल्लास, अधरों की मुस्कराहट और आँखों की चमक से भरा किसी अभूतपूर्व, आनन्द की सूचना दे रही थी। एक नीले रंग का लिफाफा मेज से निकाल कर मेरे पास डालते हुए वह तुरन्त ही कुछ लिखने के लिए कुर्सी खींच कर मेज पर जा बैठे।

मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे मस्तिष्क के अति कोमल तन्तुओं में कुछ विकार सा उत्पन्न हो गया है। सिर भारी और हृदय में नाना उत्पातों के साथ-साथ डाह भी होने लगी — "इतने वर्षों के बाद मिलने पर भी आज इनको अवकाश क्यों नहीं है, इस विरक्ति का कारण?' कौतूहलवश मेज पर पड़ा हुआ लिफाफा मैंने उठा लिया, पत्र था उनकी पूर्वपरिचिता किसी एक रमणी का। मेरा मस्तिष्क घूमने सा लगा, वह तन्मय भाव से लिखने में व्यस्त थे। पत्र किसी विशेष आशय से पूर्ण न था — बहुत दिनों से कुशल समाचार न पाने की शिकायत तथा अपनी कोई एक पुस्तिका शीघ्र ही लौटा देने का आदेश, साथ ही उस पुस्तिका के ऊपर पाठक की सम्मति भी माँगी गई थी। पत्र पढ़ कर धीरे से मैंने ज्यों का त्यों यथा स्थान रख दिया। फिर देखा — वह इसी पत्र का उत्तर इतनी तल्लीनता के साथ लिख रहे हैं। कुछ विशेष नहीं — अकारण ही पत्र लिखने की विवशता, लेखिका की स्मृति में सराहना तथा पुस्तिका से मोह उत्पन्न हो जाने के कारण ही अब तक

लौटा सके इत्यादि। भविष्य में पत्र-व्यवहार में त्रुटि न होने देने का वचन भी देना न भूल सके थे, अन्त में उक्त पुस्तिका की प्रशंसा करते हुए पत्र समाप्त कर दिया गया।

उस दिन का वातावरण जीवन में प्रथम बार ही मेरे लिये इतना भारी और कठोर सिद्ध हुआ कि किसी भी कार्य में मन न लग सका और न किसी से एक भी शब्द बोलने की इच्छा हुई, दम घुटा सा जाता था और जी भर कर रो लेने की इच्छा पल पल बढ़ती ही जाती थी। उन्होंने इस दशा को लक्ष्य किया या नहीं – यह मैं नहीं जानती – शायद नहीं, और तभी मैंने निष्कर्ष निकाला कि या तो यह भावुक ही नहीं, पर फिर कोरे अनभिज्ञ अथवा आवश्यकता से अधिक विचारशून्य और लापरवाह हैं, और इसी लिये अनधिकारी तो हैं ही।

अपने ऊपर बड़ी ग्लानि और आत्मसमर्पण पर पश्चात्ताप इतना अधिक हुआ कि उसे कभी भूल न सकूंगी, जीवन ग्रन्थ के इस प्रथम पृष्ठ को।

दूसरा :—

भोजन से निवृत्त हो कर जब हम दोनों बैठे — उस समय मन और मस्तिष्क बड़े शान्त और प्रफुल्ल थे। जीवन की अनेक प्रिय और अप्रिय घटनायें अतीत के गर्भ में मौन पड़ी थीं। इस समय किसी के लिये भी कोई स्थान शेष न बचा

था। मानो वर्तमान का यही एक क्षण हमारे समस्त अस्तित्व को समेटे बैठा है, कभी कुछ था भी नहीं, और न आगे होगा ही।

बन्धे ने सफेद रंग का लिफाफा ला कर मेरे सामने रख दिया, —'आपका यह पत्र आया था।" मैंने उसे खोला और पहिली ही केवल दो लाइनें पढ़ कर पत्र लापरवाही से डाल दिया, उसमें एक सम्बन्धी के किसी कार्य सम्पन्न होने की निराशा प्रगट की गई थी — लेखक थे मेरे एक परिचित सज्जन। अस्तु, पत्र रख कर मैं किसी आवश्यक कार्य में लग गए। इतनी ही देर में मैंने देखा कि उनकी भाव भंगी उग्र रूप धारण कर मुझे सशरीर निगल जाना चाहती है, — 'क्या बात है ?' कह कर मैंने उनके मनोगत भावों को समझने और जानने की चेष्टा की। कोई उत्तर न दे कर वह सीधे उठ कर खड़े हो गए, जैसे कि इस समय के दूषित वातावरण में उनका दम घुटा जा रहा हो — और वह कहीं दूर, बहुत दूर भाग जाना चाहते हैं। मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा — बल पूर्वक उन्हें खींच कर बैठाते हुए मैंने तीव्र स्वर में कहा —

"आखिर बात क्या है, बतलाते क्यों नहीं ? बिना बतलाए एक कदम भी न उठा पाओगे।"

झुंझला कर उन्होंने कहा — "मुझे कुछ नहीं मालुम, मैं नहीं जानता तुमको ही पता होगा यह सब।

आहत पक्षी के समान तिलमिला कर मैंने पल भर में परिस्थिति को भाँप लिया, तब से बहुत दिन पहले की एक घटना ने सहसा ही मेरा ध्यान आकर्षित किया। भावुकता चीत्कार कर उठी, वह चुपके चुपके आँसू बहा रहे थे, और मैंने आद्योपान्त वह पत्र पढ़ डाला, उन सज्जन ने केवल किसी कार्यवश अपने आने की बात लिखी थी — और कुछ नहीं।

मेरे लिये यद्यपि यह बिल्कुल साधारण बात थी किन्तु उनके लिये सचमुच असाधारण, फिर भी मैंने उनके मनोगत भावों को समझा और स्वागत किया।

यद्यपि अब वह सब बातें दूर की रह गई हैं, अनुभूति के आधार पर केवल कल्पना का विषय मात्र, किन्तु फिर भी न जाने क्यों? मैं इन दो पृष्ठों को आज भी जब तब सूने में पढ़ कर सिहर उठती [redacted]।



## बारह

आज आठ-दस दिन से बराबर उनकी याद आ रही है। सफ़ेद काग़ज़ पर, इन काली रेखाओं में, उनको उतारने में कुछ विशेष आनन्द का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। उनको तो मानस पट पर देखने में ही मैं अपने जीवन की चरम सार्थकता मानता आया हूँ। किन्तु आज साहित्य को ऐसी आवश्यकता आ पड़ी है। इसी से विवश हो गया हूँ।

मेरे एक सुहृद हैं। उनकी भी याद, इस सम्बन्ध को लेकर, इस समय हो आयी। अनेक बार उन्होंने, कुछ तो विस्मय के भाव से—और कुछ अविश्वास और उपहास के भाव से भी—मुझ से कह डाला है—"तुम्हारे जीवन में तो मि० वाजपेयी, ऐसी कोई बात है नहीं, जिसे देखकर मैं सिहर उठता। किन्तु तुम्हारे साहित्य में यह अथाह रसार्णव कैसे लहराता है! मैं तो इसे कृत्रिम समझता हूँ।" सदा ही उनके इस आक्षेप पर मैंने हँस दिया है। आत्मा के बन्धन खोलकर वे मुझे देख नहीं पाये,

समझ नहीं सके। नहीं तो ऐसी बात कहते हुए उनकी वाणी अवरुद्ध हो जाती। साहित्य में रस के अगाध को देखकर भी वे यह कहना चाहते हैं कि यह कृत्रिम है। और, उनके अंगार का दम्भ मान लेता है कि उन्होंने मुझे इतना देखा है कि अब कुछ भी देखने को उन्हें शेष नहीं रह गया है। उन्होंने इतना भी समझने की चेष्टा नहीं की कि स्रष्टा को पहले देख कर बाद में वे सृष्टि देखना चाहते हैं।—किन्तु स्रष्टा को देख पाने की क्षमता क्या मनुष्य प्राप्त कर सकता है?

पर इस बात को अब यहीं समाप्त किये देता हूँ।

हाँ, तो इन दिनों उनकी याद बराबर आ रही है। उनका नाम मैं नहीं बताऊँगा। परिचय भी उनका खोलकर न दूँगा। इतना ही कहना चाहूँगा कि उनसे मेरा कुछ ऐसा नाता था कि वे अपने आत्मीय जनों के सामने भी, स्वतन्त्रतापूर्वक, मुझसे हँस बोल सकती थीं। विवाह उनका उसी वर्ष हो गया था और ससुराल से लौटकर आये हुए थोड़े ही दिन हुए थे। पहली बार उन्हें उस रूप में देखा था। यों देखा तो अनेक बार पहले भी था; किन्तु उतने निकट से नहीं। बातें भी पहले कभी नहीं हुई थीं।

यह बात उस समय की है, जब मैं, सन् १९२१ के लगभग, कानपुर में 'संसार' नामक एक मासिक पत्र का सम्पादक था।

प्रारम्भिक शिष्टाचार के बाद, उस अपने कोलाहलपूर्ण

घर में, वे एक ओर से मेरे पास आ खड़ी हुईं। मैंने ध्यान से इधर देखा तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। वे बोलीं—"आप तो कवि हैं न?"

उस समय तक मासिक पत्र-पत्रिकाओं में, मेरी कुछ कविताएँ ही प्रकाशित हुई थीं। गद्य-लेख दो या चार निकले थे।

मेरे इस प्रश्न के साथ वे थोड़ा मुसकायीं। तभी जो कुछ आगे कहना चाहता था, वह नहीं सका और उनकी यह पहली ही बात अधूरी रह गयी। फिर तुरन्त मैंने और भी कुछ देखा, उनके अधर पर ही नहीं, नयन और भ्रू-चाप पर भी मन्द हास खेल रहा है।

और उसी निमिष में मैंने कह दिया—"कैसे कहूँ!"

उनकी रूप राशि का वर्णन नहीं करूँगा। जिसने मुझे वाणी का वेग दिया है, बल दिया है, प्राण और प्रतिष्ठा दी है, जीवन भर अमृत ही अमृत मुझे पान कराया है, उसके रूप का वर्णन करते मुझे संकोच होता है। यद्यपि मेरे साहित्य में वह कहीं कहीं शायद झलक भी पड़ा है, अयपि उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया।

उन्होंने मेरा बहुत स्वागत-सत्कार किया। अपने हाथ से शरबत बनाकर पिलाया, खाना तैयार किया और भोजन करते समय, पास ही बैठ कर, वे मुझ पर पंखा झलती रहीं। उस समय और कौन कौन-सी बातें उन्होंने कीं, पूछीं और मुझ से

सुनीं, इस समय वे सब विस्मृति के गर्भ में जा पड़ी हैं। कौन जानता था कि एक ऐसा भी समय आयेगा, जब इन बातों का भी कोई महत्व माना जायगा। कौन जानता था कि उनकी उन बातों की धूमिल स्मृतियाँ ही मेरी अर्चना की आरती के थाल पर, दीप शिखा की भाँति, जगमगा उठेंगी। नहीं तो उन्हें भी ज्यों-का-त्यों उतार लेता, कागज की इन वक्रिम रेखाओं पर।

दोपहर ढल चुकी थी और मुझे उसी दिन, थोड़ी ही देर बाद, लौट आना था। ट्रेन पकड़ने का समय भी निकट आ रहा था। घर के और लोग विभिन्न स्थानों पर सो रहे थे। मैं चलने को तैयार बैठा था। उसी क्षण वे मालूम नहीं किधर से आयीं और मेरी पीठ से लग कर उन्होंने मेरी आँखों की पलकों पर अपनी कमल-नाल सी उंगलियाँ रख दीं। मैंने हाथ टटोले और कह दिया—"जानता हूँ। तुम कौन हो।"

कलहासमयी, वे, स्वर बदल कर बोलीं—"बतलाओ न?"

मैंने तुरन्त कह दिया—"कल्पना।"

और वे खिलखिला कर तालियाँ बजाती हँस पड़ीं।

यह खिलखिलाहट और वे तालियाँ, उस समय कौन जानता था, एक जागृत स्वप्न की भाँति मेरे अन्तरपट पर सदा के लिए मुद्रित होकर रह जायगी।

पलंग पर से उठने ही वाला था कि वे मेरे वाम स्कन्ध से लग गयीं। उनके वे अरुण कपोल उस समय मेरी बाहु

कनपटी पर थे। उस समय मैं मन ही मन जिस स्थिति पर आ पहुँचा था, उसे आजतक कदा भूल सका हूँ। आज भी वे शीतल कपोल मेरे प्राणों के स्पन्दन हैं और सदा रहेंगे। जानता हूँ, संस्कृति क्या वस्तु है, धर्माधर्म का मर्यादा का दावा भी समझता हूँ, कितना है। साहित्य-समीक्षाओं में आध्यात्मिक प्रेम के मर्म पर वासना के आरोप की कपिरकवायें भी खूब देखी हैं। किन्तु वह सरल-चपल आत्मदान निरा वासना मूलक था, कभी नहीं मान सकता—कभी नहीं।

हां, तो मेरे वाम स्कन्ध से लिपट कर उन्होंने पूछा—"अच्छा अब कब आओगे?"

मौजे पहन चुका था और जूतों में पैर डाल ही रहा था कि अनायास मेरे मुंह से निकल गया—"कह नहीं सकता। आज ही मुश्किल से इतना समय निकाल सका।"

इसके बाद मैं चला आया। याद आता है, शायद चलते समय भी एक बार उन पर दृष्टि गयी। आखों की पुतलियों पर एक झलमल झलमल ज्योति भी चमक उठी।

इसके बाद फिर कभी उन्हें देख नहीं सका। महीनों बाद सुना था—वे बीमार हैं और ससुराल में हैं। न वैसी सुविधा थी, न वैसा मन, कि उस दशा में भी उन्हें देख सकता। दिन चलते गये और तीसरे वर्ष मैंने यह भी सुन लिया कि वे इस संसार में नहीं है।

लेकिन मैं आज तक, कभी, यह अनुभव नहीं कर पाया कि वे सचमुच नहीं हैं। क्या आप विश्वास करेंगे ?—जबकि, मैं उन्हें भूल नहीं सकता—भूल नहीं सकता, और ।

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी।



# तेरह

——जीवन में जो अनायास आई और मधु निर्झर क
चली गई, उसकी ही एक कहानी कहने चला । उसकी या
आती है तो चित्त मारे और दिल सजल होने लगता है। मानो
यदि यह बराबर याद आती रही तो दुःख का सागर जो रु
पड़ा है, फूट कर यह निकलेगा । और तब मैं आकुल होक
उसे भूलने का प्रयत्न कर लेना चाहता हूँ ।

मेरे जीवन गागर में उसने अपने सम्पूर्ण प्रेम
उड़ेल दिया कि मुझे लगा—मानो परिवार की उपेक्षा औ
जगत का तिरस्कार इस पावन प्यार के आगे टिक न सकें
उसे टूट टूट कर बिखर जाना होगा। और और

जीवन में आंधी की भांति आकर और प्रलय के उपद्र
वाले हाहाकार एवं श्वास की तरह जाकर उसने जीवन को वि
और शून्य बना दिया है ।

वह जीवन की प्रेयसी थी या कौन थी—यह आजतक मैं नहीं जानता। स्मृतियों के लेखे को देखता हूं तो लगता है कि उसने मेरे जीवन में अपना वह 'रोल' दिया है, जिसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। जो भाषा से परे है और 'एक्सप्रेशन' से भी आगे की ओर जिसकी सुकुमार गति है; चालना है।

जिसने जीवन में मस्ती का प्याला ढुलका दिया और जिससे जीवन के अणु अणु में नेहोश और प्रलय जैसी उन्मत्तता फैल गयी—उसके विक्षिप्त उत्सग की उन्मादकारी रः उद्भ्रांत गाथा को कैसे भूल सकता हूं। सुनसान रजनी में अब भी वह कहानी वायु के प्रकम्पन से पीपल के पत्तों की तरह लहर उठती है और तब मैं कांप उठता हूं।

आज वह इस दुनिया में नहीं है और तब म आप सब के समक्ष उसके एक पत्र को पढ़कर सुनाये देता हूं जिसमें उसने प्रेम के बारे में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं। सुनिये—"जीवन में अनायास ढंग से मुझे तुम मिले। तुम्हारी प्रेयसी तो नहीं लेकिन प्यार की प्रतीक नारी का कुछ ऐसा रूप तुम्हारे सामने रखकर तुमसे कृतार्थ ले अपनी सारी कृतज्ञता को दे देना चाहती थी। तुमने मेरी कृतज्ञता को लेकर मुझे कृतार्थ किया? यह मैंने क्यों किया? क्यों अपने को तुम्हें दे डाला? इसलिए कि यदि तुमको मेरा प्यार नहीं मिलता तो जीवन का घात तुम कर बैठते।

"और दरअसल इसलिये अपने जीवन की ओर जब मैंने देखा तो मुझे ऐसा लगा कि जीवन की शाश्वतता का यही अर्थ है कि नारी नर से और नर नारी से निरंतर प्रेम पाये। यह प्रेम ही तो है जिसे पाकर मानव सृष्टि के प्रारम्भ से जीवन की पीडामयी मंजिल को तय करता आ रहा है। यह प्रेम की लौ जब तक उसमें जलती रहेगी वह जीवन को आलोकित करता रहेगा—जगत को प्रकाशमान बना सकेगा। जिस क्षण यह बुझी कि मानो नर और नारी आसमान में उड़ जायेंगे। यह पृथ्वी त्वरा चाहने लगेगी।"

पत्र को 'फिनिशिंग टच' देते हुए उसने प्रेम की विश्व व्यापकता पर मानवता के प्रति अपनी अनुरागशीलता के बारे में अंग्रेजी के अमर कवि शैली के प्रति मानवता के अनन्य पुजारी स्वर्गीय देशबन्धु चितरञ्जन दास द्वारा समर्पित कविता—श्रद्धाञ्जलि की कुछ पंक्तियां लिखकर भेजी हैं —

O God! Whose heavenward face beaming,
With Passionate Loveliness, is a light
For all eyes! O Thou whose angel heart
Has wept many a bitter tear over
The wronge of much oppressed humanity,

और आज जब मैं इस पत्र को लेकर जीवन के आकुल क्षणों में अपनी वर्त्तमान संतप्त दशा पर कुछ सोचता हूं, तो मानो जीवन की उस प्रेयसी के साथ ही माता और पिता के

वे सुनहले दिन भी मन में फिर आते हैं जो अब केवल एक स्मृति भर रह गये हैं। किन्तु सुनहले दिन उन्हें कैसे कहूं, जब मैं उनके जीवित रहते उनके प्यार को नहीं पा सका—जो मुझे प्रेम के बारे में इतना भी नहीं दे पाये, जितना मैं उनसे आशा करता था और जो मुझे रुलाकर मृत्यु के अन्तरिक्ष में समा गये हैं। यह सब मैं जब याद करता हूं तो दिल में एक पीड़ा और दुःख छिड़ जाता है। और तब मैं जीवन की रस अज्ञात प्रेयसी के पावन स्नेह की कोमल एवं स्निग्ध स्मृतियों को याद कर के कुछ हलका हो लेता हूं—व्यथा के अञ्चल में अपने विषादग्रस्त भारी चेहरे को छिपा कर रो उठता हूं।

—विनोदशंकर पाठक।



## चौदह

"तुम्हारी तो शादी हो रही है न ?"

"हां !"

"फिर रोती क्यों हो ?"

"मैं इस शादी से राजी नहीं हूं ।"

"क्यों ?"

"जीजा जी मुझे मारते हैं, तंग करते हैं और "

"और शायद वह बूढ़े भी हैं ।"

लड़की की नज़र नीची हो गई । उसकी आंखों में आंस
छलछला उठे ।

"रोओ मत ! ऐसा कभी नहीं होगा "

"भय्या !"

इस से आगे वह न बोल सका, वो न बोल सकी,
पांच फूटे मकान में से कुछ औरतें उस से 'पूजन' कराने
आ धमकीं । गरीब लड़की मेरी ओर कातर दृष्टि डाल

चली गई। उसका "भय्या" शब्द मेरे दिमाग में घर कर गया, माथा झनझना गया। मुझ जैसा १४ साल का बालक क्या कर सकता है, यह विचार मुझे परेशान कर रहा था। सोचता समझता हुआ मैं पानखाने मकान में स्नान करने चला। हमारे मकान में, जिसमें हम किराये पर रहते थे, नल नहीं था और जिस नल का हम इस्तैमाल करते थे वह हमारे 'गुरु' जी का था।

* * * *

"क्यों भाइ ! तुम शादी तो कर रहे हो लेकिन किसी जाति वाले ने बुरा भला माना तो ?" एक हकीम जी ने लड़की के बहनोई से कहा।

"यह सोलहवां (जूता) पड़ा है, उन साले जाति वालों के लिए—बन्दा तो मोहर बांध कर ठाठ से शादी करेगा।"

मेरे सामने ही यह बात हुई। क्रोध को पी जाना पड़ा। शाम को हम लोगों की पंचायत थी। मैंने एक पत्र लिखकर सब मामला पंचों के सामने रख दिया। चाचा जी (पिता जी) को कानों कान भी खबर नहीं पड़ी। पंचायत में खलबली मच गई। चाचा जी सशंकित हुए। विषय पर बोले और जोर से इस प्रकार के विवाह का विरोध किया। मेरे ददिया ससुर प० ख्यालीराम जी बड़े दबंग आदमियों में से थे, फौरन ही डण्डा सभाल कर उठ खड़े हुए। भीड़ चल पड़ी। मकान पर पहुंच कर एक आदमी ने लड़की को हृदय से लगा लिया :—

बेटा! धरम से कहियो तू आगा के साथ शादी करेगी या नहीं?' लड़की ने सिर हिला कर कहा—"नहीं"

शादी नहीं हुई। लड़की बचा ली गयी। २४-२-२६ की रात भर कभी इस घर से उस घर में, कभी उस घर से इस घर में लड़की का आना जाना रहा।

* * * *

लड़की के भाई ने फौजदारी दावा दायर किया, तेरह व्यक्तियों पर। लोगों ने कहा तेरह आदमी अन्धे नहीं होते। तेरह पंचों पर, बहनोई की राय से इस्तगासा दायर हुआ। भाई को निमोनिया हो गया और जिस दिन इस्तगासा दायर हुआ गरीब उसी दिन चल बसा।

बहनोई ने भी दीवानी में दावा चलाया। लड़की ने जब मि० थेनट के सामने स्पष्ट शब्दों में शादी से इनकार कर दिया। अब आया प्रश्न सरपरस्ती का। लड़की की बड़ी बहन ने दरख्वास्त दी "मैं नजदीकी रिश्तेदार हूं इसलिये मुझे वली बनाया जाय। और मैं इतनी गरीब हूं कि अदालत का खर्च बरदाश्त नहीं कर सकती हूं, लिहाजा सरकार मेरी तरफ से खुद पैरवी करे।'

हम लोगों की ओर से लड़की के पक्ष साऊ ने दरख्वास्त दी। मामला रुला उलझ गया।

हमारे वकील साहब ने कहा —"हजूर! जो औरत इतनी गरीब है कि ४-६ रुपये अदालत का खर्च भी बरदाश्त

नहीं कर सकती, वह भला शादी में सा दो सौ रुपया कैसे खर्च कर सकती है ?"

बात बहुत मार्के की रही। अब मि० वेनट ने (जो शायद आजकल इलाहाबाद हाईकोर्ट में जज हैं) बहिन की दरख्वास्त खारिज कर दी। लड़की नाऊ के यहां पहुंचा दी गयी।

* * * *

प० गोपालप्रसादजी रावत के इलावा करीब करीब सभी साथ छोड़ गये। चाचा जी-श्री० प० देवीप्रसाद जी दीक्षित के सिर आया शादी का भार। मुझे खुशी थी, एक बहन मिल गयी। मेरे कोई बहिन थी भी नहीं। लड़का खोजा गया। शक्लोशबाहत का अच्छा और बरसरे रोजगार। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के एक स्कूल में नौकर—प० दशरथप्रसाद शर्मा। सारी रस्में अदा की गई और शादी कर दी गई। जिस बहिन को इतनी मुश्किल से पाया उसे सिर्फ तीन दिन में दूसरे का गृहलक्ष्मी बनाकर विदा कर दिया।

* * * *

लोग जो देखते थे ताज्जुब करते थे, हम दोनों की शक्लें एक दम मिलती थीं। वह अपने इस भाई से कितना प्रेम करती थी यह लिख कर नहीं बताया जा सकता। एक बार ऐसा हुआ कि सास ने 'विष्णु' को मारा-हम उसे 'किशना' न कह कर विष्णु ही कहते थे। इसी दौरान में यह भी कहा कि तू मर जा,

तेरा भय्या मर जाय, तेरे चाचा और चाची मर जायें। "विष्णु ने उत्तर दिया "मेरा भय्या मर जाय तो तेरा लड़का नहीं मर जाय" -कितनी भोली थी गरीब! यह भी न सोचा कि वह क्या बात किसके लिए कह रही है! जब पं० दशरथ जी ने इस बात की शिकायत मेरे चाचा जी से की तो उन्होंने "बहिन विष्णु" को फटकारा। बहिन ने रो-रो कर कहा—"वह (लालु) तुम्हारे और चाची के लिए चाहें जो कुछ कह लें, मेरे भय्या से कुछ भी कहेंगी तो अच्छा न होगा।" उसकी निस्वार्थ भिड़ी भावना का यह उदाहरण कैसा प्यारा था। हम साथ-साथ खेलते खाते एक दूसरे को मारते और विदा होते समय रोते भी। मुझे सन्तोष था कि बहिन मिल गयी है, मैं संसार में अकेला नहीं हूँ। माई वाला नहीं सही, बहिन वाला ही सही।

* * * *

सुनहले पर वाले पक्षियों की तरह समय न जाने कब उड़ गया। विष्णु इस समय अपनी गृहस्थी सम्हाल चुकी थी। वह संसार के रंगमंच पर अब एक कन्या की माता हो चुकी थी और ■ एक मामा। मूल-नक्षत्र में पैदा होने के कारण २७ दिन बाद उसकी शांति हुई और उसी दिन जब मैं चांदी सोने की चीजें लेकर विष्णु के घर गया उस समय हर्ष के मारे जमीन पर पैर नहीं पड़ रहा था। नन्ही सी "मुन्नी' को लेकर पहिलाप—गालियां सुनीं और न जाने क्या-क्या सुना।

परन्तु इन सब के बाद जो कुछ भी सुना वह कभी कोई न सुने यही मेरी हार्दिक इच्छा है।

* * * *

विष्णु बीमार हो गई। प्रसव के बाद से ही वह ज्वर ग्रस्त हो गई। अन्तिम समय में उसका पेट फूलने लगा। वैद्य और हकीमों ने हाथ खींच लिया। मैं भी कई मर्तबा उसे देखने गया और मुझे रोते देख कर उसने कई बार मुझे धीरज बंधाया — उस छोटी सी विष्णु ने अपने बड़े भय्या को शान्ति देने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। कभी-कभी वह मेरे साथ स्वयं भी रो पड़ती। सु दिन के चित्र हमारी नजरों के सामने खिंच जाते, हम एक दूसरे की प्रतिमूर्ति होते हुए भी एक दूसरे से अलग हुए जारहे थे, इस भीषण आशंका से मेरा हृदय कांप उठता था। शायद मेरे भाग्य में 'बहिन' का सुख था ही नहीं। जिस विष्णु ने अपने सहोदर बंधु की मौत पर दो बूंद आंसू भी नहीं गिराए थे और मेरे लिये अपने सुहाग-सर्वस्व पर भी ठोकर मारने की बात कह दी थी — वही विष्णु मेरे सामने से चली जा रही था और मैं दो हाथ और दो पैर रखते हुए भी कुछ नहीं कर पा रहा था।

चाचा जा ने और बेचारे प० दशरथ शर्मा ने परिश्रम के हद में रात दिन एक कर दिया, रुपया के ढेर के ढेर खर्च कर दिये। मनौतियें बोलीं, दीपक प्रज्वलित किये, परन्तु उस दीपक

को कोई भी प्राणी प्रज्वलित नहीं कर सका जिसके बुझ जाने से मेरे हृदय के एक कोने में आज भी गहरा अंधेरा है।

* * * *

कुछ-कुछ याद है। मेरी दिवंगता धर्मपत्नी ( श्रीमती कपूरी दवी ) शायद चौके-चूल्हे को सम्हालने में व्यस्त थीं, इसी समय किसी ने आ कर कहा—'विष्णु मर गई !"

"मर गयी ! ! !" शरीर झनझना उठा। चाचा जी और चाची दोनों वहीं थे। घर पर मैं था और मेरी पत्नी। पत्नी के हाथ से थाली छूट पड़ी। ऐसा ज्ञात पड़ा मानो सारा दिग्दिगंत झनझना उठा हो। मकान के चौक में बने हुये तुलसी स्तम्भ के सहारे मैं खड़ा का खड़ा ही रह गया। आँखों के आँसू रुक गये थे। हृदय-गति कुछ मंद सी होती ज्ञात पड़ी। कहा तो मुझे अपनी पत्नी को धीरज देना चाहिये था, वहाँ मेरे ही धीरज का बाँध टूट गया। चाचा जी जब श्मशान से लौट कर घर आए तो एक बार वह कोहराम मचा कि बस। हम लोग आँसुओं में नहा उठे।

* * * *

अपने छोटे से जीवन में इसके बाद अपने चाचा जी को खोया, पुत्री का विछोह देखा, धर्मपत्नी का वियोग मिला और न जाने किन किन घटनाओं का सामना करना पड़ा।

विस्मृति के गर्त में क्रमशः सभी घटनाएं विलीन होती जा रही हैं और हो भी जानी चाहियें क्योंकि यही विश्व का

नियम है। मुझ में भी बहुत से परिवर्तन हुए हैं। आज, मेरे पास निज की कोठी है, पैसा है, यश है, कविता है और न जाने क्या-क्या है। दूसरी सुयोग्य धर्मपत्नी (श्रीमती कमला वती) भी सौभाग्य से मिल गई हैं, जो एक सैशन जज की सुपुत्री हैं और छोटा सा बच्चा, कुमार श्री देवेन्द्र दीक्षित भी है, साथ ही मा की छत्रच्छाया भी। सन् १६२८ से आज तक कांग्रेस की सेवा के कारण और राष्ट्रीय कविताओं की वजह से मुझे प्रेम करने वाले भी कम नहीं हैं, परन्तु ज्योंही किसी देवी को मैं 'बहिनजी' कहकर पुकारना चाहता हूं, तो एक भीषण विभीषिका, विष्णु का चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है। शायद मेरे भाग्य से किसी को नुक्सान पहुंचा हो तो ?—तो क्यों न 'माता जी' कह कर पुकारा करूं। इसी लिये जब किसी को बहिन कह कर पुकारने की इच्छा होती है तो विष्णु सामने आ जाती है। उसने कुछ प्रभाव ही ऐसा छोड़ा है, मेरी अन्तरात्मा पर, कि मैं उसे भूल न सकूं।

—श्यामसुन्दरलाल दीक्षित,

## पन्द्रह

सनातनधर्म कालेज के विद्यार्थियों के स्नान के लिये तिवारी घाट एक प्रसिद्ध जगह है। मैं भी उन दिनों वहां कितनी बार न गया हूँगा। स्थान बड़ा रमणीक – शान्त – और पावन स्मृतियों को जागृत करने वाला है। कभी-कभी हम देखते वहां पुराने कानपुर के बहुत से बालक, सभी उम्र के लड़के लड़कियां स्नान करने आते और बिना किसी संकोच के वे सभी साथ साथ गंगा स्नान करते, तैरते और बढ़-बढ़ कर गोते लगाते।

उनमें एक लड़की अधिक चंचल, और सुन्दर थी – किन्तु लजीली सी, (शायद वह उन सब में बड़ी होगी) मैंने अनेक दिनों में उसे कई बार देखा था।

उस दिन रक्षा-बन्धन का दिन था।

इस से पहिले मेरी बहिन ने एक लिफाफे में बन्द करके मेरे लिये रक्षा और तिलक रोली चावल भेज दिये थे। तब

लिफाफा मिलने पर मुझे थोड़ा हर्ष हुआ था, किन्तु उसके अनन्तर में कुछ क्षण के लिये चिन्तामग्न हो उठा था। अपने माथ पर स्वय रोली घोल कर तिलक चढ़ाने का भाव मुझे कुछ अधिक पसन्द न आया। अस्तु, ज्यों त्यों करके वाच का रात कटी।

अगले दिन श्रावणी कर्म के लिये मैं फिर तिवारी घाट गया, और धोती, तौलिये के साथ मैंने यह लिफाफा भी रख लिया।

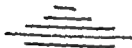
घाट पर पहुंच कर देखा, तो दृष्टि सूने में घूम कर लौट आई। मैंने अपने मन को, यह कह कर कि 'शायद मैं सवेरे आ गया हू' कुछ आश्वासन दिलाया। और स्नान आदि को थोड़ी देर के लिये टालता रहा। किन्तु, फिर निराश हो कर मैंने नहा डाला और तब मैंने देखा कि, जिसका मैं अभी चर्चा कर आया हू, वही लड़की घाट के बराबर वाले मन्दिर में जा रही है। मेरा मन खिल उठा। परन्तु फिर मुझे एक सकोच ने आ दबाया — सोचने लगा — मैं इस पर अपना आशय किन शब्दों में प्रगट करू कि वह ठीक ही समझ जाय, पर समय विचार के लिये अधिक नहीं था। मैंने देखा वह जाने को थी, और तभी मैं तुरन्त ही उसके सामने आ कर बोला — 'बहिन! यह रोली चावल मेरी बहिन ने भेजे हैं, क्या तुम टीका काढ़ कर यह राखी मेरे हाथ में न बांध दोगी?'

यह सुन कर लड़की कुछ सहमी, और मैंने वह लिफाफा आगे बढ़ा दिया। उसने निःशब्द मेरे माथे पर टीका कर राखी बाँध दी।

मैं धन्य हो गया।

उस समय कन्या की मुद्रा और मेरे मनोभाव विचित्र थे। मुझे आज भी वह सब याद है, किन्तु शब्दों में कदाचित प्रगट न कर सकूं — कारण कि यह अनुभूति की बात अधिक है। इस घटना को कोई १० वर्ष बीत चुके होंगे, किन्तु मुझे आज भी यह कल की-सी बात याद है। मैं उसे भूल न सकूंगा।

—कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र'



## सोलह

शायद अक्टूबर सन् १९३७ के दिन थे। (ठीक तारीख भी मेरे पास कहीं पड़ी है, लेकिन उसे ढूंढना पड़ेगा। अगर यह दास्तान पढ़ने के बाद भी आपका औत्सुक्य जाग्रत रहा तो बेशक मुझे लिखिये, मैं ठीक तारीख, वक्त और जो भी जानना चाहेंगे बता दूंगा।)

मैं रात को दस बजे की गाड़ी पर रावलपिंडी से सवार होकर सुबह सात बजे के करीब लाहौर पहुंचा। सामान मेरे पास ज्यादा नहीं था, केवल एक छोटा सा बिस्तर, क्योंकि तीन चार दिन के लिए ही घरवालों से मिलने लाहौर से बाहर गया था। इसलिये मैंने तांगे पर आठ आने जाया करने की बजाय सोचा कि क्यों न मानसरोवर बस सर्विस का उपयोग करूं। (बस सर्विस का वास्तविक नाम दूसरा है)।

उन दिनों, जहां तक मेरा खयाल है, यह बस सर्विस नई शुरू हुई थी। लाहौर की आबादी छः लाख से ऊपर है, ऐसा

सुनते हैं, लेकिन वहां ट्राम या बस की सुविधा नहीं है। सिर्फ यह एक नाम मात्र सर्विस शुरू हुई थी, जो सिर्फ स्टेशन से शहर होती हुई जिला कचहरी के मोड पर माल रोड को छू आती थी। अब मैं नहीं जानता जारी है या बन्द।

अक्सर मैंने इस 'बस' का उपयोग नहीं किया था। बाकी अमीरतरा लोगों की तरह, चाहे भो रहा हो या न हो, मैं भी सिविल लाइन्स में ही रहा करता था। तांगे पर बाहर ही बाहर से घर पहुंच जाने की आदत थी। जहां तक सम्भव होता था शहर के अन्दर घुसने की, वास्तविक लाहौर देखने की, कभी कोशिश नहीं की थी।

लेकिन आज स्वाभाविक किया और छू आने बचा लेने की खातिर ड्राइवर के बराबर खाली सीट पर, बिस्तर पैरों के नीचे जमाकर, बैठ गया और शहर की तरफ रवाना हुआ।

लाहौर की ऐतिहासिक सड़क, 'जो काश्मीरी,' काबुली, शाह आलमी, लाहौरी आम भारी दरवाजों को जोड़ती है, गन्दगी, बदबू और गर्दोगुबार में अपना सानी नहीं रखती। राजधानी की एक शाही सड़क होने की हैसियत से यह रुतबा उसे मुनासिब ही है। सफर चलते हुए मेरा करांचा के लिये अपनी चौगिर्द से बहुत दूर भाग जाना अनिवार्य हो गया।

मुझे याद नहीं 'बस' आहिस्ता जा रही थी या तेज। अगर सड़क पर आत जात ज्यादा होती तो शायद यही रफ्तार तेज मालूम पड़ती, लेकिन बाजार तकरीबन खाली था।

एक बार मेरी समाधि टूटी,क्योंकि मैंने देखा,सामने सड़क की दाईं तरफ, एक बारह चौदह साल का छोकरा, अपने सिर के लिहाज से बहुत बड़ी टोपी पहने, अपनी टांगों के लिहाज़ से बहुत ऊंची साइकल चलाये जा रहा था, एक मजाक भरी अदा से। मैं कुछ मुस्कराया। लड़के ने घूमकर पीछे देखा। मैंने एक धक्का सा महसूस किया। ब्रेकों की किच किच हुई, साइकल सिनेमा के क्लोज-अप की तरह नजदीक आई, लड़का ओझल हो गया, एक और धक्का सा लगा, पहियों ने जैसे अपने दांतों के नीचे कोई सख्त चीज चबाई हो। लेकिन लारी रुकी नहीं। एक फुट, दो फुट, चार फुट, दस फुट। पहियो में से फिर कड़कने की आवाज आई। लारी रुकी।

मैंने खालसा ड्राइवर की ओर देखा, उसका चेहरा कागज हो रहा है। मुझे उसके अभी तक वहां बैठे रहने से नफरत हुई। मैं उठा, लेकिन साथ ही ख्याल आया कि अब उठने से फायदा क्या। फिर भी सड़क पर उतर कर मैंने अपनी आंखों को पहियों के नीचे झुकने पर बाधित किया।

लड़का पिछले पहियों के पास साइकल के टुड़े मुड़े लोहे में उलझा पड़ा था। लहू बहना शुरू हो रहा था। इर्द गिर्द लोगों की टांग और पैर इकट्ठे हो रहे थे। लेकिन जिस तबाही की आशा था, वह नहीं थी।

मैं लारी के दूसरी तरफ भाग कर पहुंचा। अभी तक किसी ने लड़के को हाथ लगाने की कोशिश न की थी। मैंने

ड्राइवर की मदद से घसीट कर उसे निकाला। जितनी समझ मुझ में थी उसके मुताबिक मैंने उसके जिस्म को टटोला। देखा कि वह आतंक की वजह से बेहोश हो गया है, लेकिन चोटें ऐसी नहीं थीं, कि बच न सके। लेकिन उसे फौरन अस्पताल पहुंचाना लाज़मी है।

मैं ड्राइवर से बात कर रहा था कि एक पक्की उमर का आदमी हमारे पास आ खड़ा हुआ और चुपचाप हमारी तरफ देखने लगा।

अचानक प्रेरित होकर मैंने उससे पूछा —

"ए जातक तुहाडा ए ?"

"मेरा पुत्तर ए।"

यह कह कर भी न उसने झुककर लड़के के जिस्म को हाथ ही लगाया और न ही कोई आवेग ही प्रकट किया। स्तब्ध सा होकर वह ज़मीन पर पड़े हुए ढेर की तरफ देखता रहा, जैसे सोच रहा हो "या खुदा! इतनी सवेरे भी ऐसा हो सकता है ?"

मैंने उसे समझाना शुरू किया।

"मियां जी" मैं उसकी शक्ल सूरत से पहचान गया था कि वह मुसलमान है। 'ड्राइवर दा कोई कसूर नहीं। ए जातक दी किस्मत सी। लेकिन ए वक्त सोचन दा नहीं। इस नू फौरन अस्पताल पहुंचाना चाहीदै। ईश्वर करेगा बच जायगा। तुसी वी गारी बिच बैठ जाओ और साथ चलो।"

न जाने क्यों, बूढ़े की आंखों से ऐसा लगने लगा मानो उसने अपनी सारी आशाएं मुझ ही पर छोड़ दी हैं। कहने लगा—

"हां, जैसा तुम्हीं कहो।"

लेकिन अभी हमारी बात खतम नहीं हुई थी कि मैंने देखा बीसियों आदमी, अधिकर मुसलमान, दौड़े आ रहे हैं। लौरी के मुसाफिर पहिले ही तमाशाइयों की तरह छोकरे के गिर्द घेरा डालकर खड़े थे, अब और भी भीड़ जमा होने लगी, जिससे छुटकारा पाना आसान नहीं था। परिस्थिति हाथों से निकलने लगी।

तरह तरह की आवाज़ें उठने लगीं। "क्या हुआ है? कैसे हुआ? अन्धों की तरह चलाते हैं, हरामज़ादे। मर गया है यह तो। देखते क्या हो ले चलो सुअर को थाने। कौन है, ड्राइवर? यह हमेशा तेज चलाता है।"

मैं इस तरह की बात में पहली बार पड़ा था, इसलिये उसकी सम्भावनाओं की पूरी कल्पना न कर सका। अब तक मुझ आशा थी आखिर यह लोग वही करेंगे जो इस हालत में साफ उनका कर्तव्य है, यानी बच्चे को अस्पताल में पहुंचाना। मैंने बारी बारी उन्हें समझाना चाहा।

अब तक कभी मैंने ऐसा हौसला नहीं किया। एक लम्बा सांस भर कर हुजूम के घेरे के बाहर ही से चुपचाप सरक जाता हूँ।

यकायक एक नौजवान लड़के ने बढ़ कर ड्राइवर के मुंह पर एक घूंसा रसीद कर दिया। आन की आन में तीन-चार और लोगों ने मिल कर ड्राइवर की चौतरफी मरम्मत कर दी।

उस दिन मुझे दिखाई दिया कि फसाद कैसे शुरू होते हैं। इस वास्ते नहीं कि लोगों में नफरत होती है, बल्कि इस लिये कि उन्हें इन्सानियत के ढंग की तालीम ही नहीं दी जाती। ऐसे अवसरों पर क्या करना चाहिये, क्या नहीं, यह वह जानते ही नहीं।

लारी के यात्री बाबू लोग अब भी खड़े तमाशा देख रहे थे। धक्के धुक्के मार कर मैंने ड्राइवर को छुड़ा लिया, और लारी के फुटबोर्ड पर खड़े हो कर जीवन में पहली बार तकरीर की। चिल्लाया, मजमे को बुरा भला कहा, बताया कि ड्राइवर को मार देने से उस मासूम बच्चे की जान नहीं बचेगी। अगर ड्राइवर को पुलिस में देना हो, या मारना हो तो यह बालक को हस्पताल में पहुंचाने के बाद भी हो सकता है।

अमूमन अगर मैं अपनी मां के साथ भी पंजाबी में बात चीत करूं तो प्रतिवाक्य में दो चार शब्द अंग्रेजी के कह डालता हूं। लेकिन जहां तक मुझे याद है कि इस तकरीर में मैं कहीं नहीं रुका, कहीं मेरा आत्मविश्वास स्खलित नहीं हुआ।

मैं सफल हुआ। तमाम चेहरे मेरी तरफ मुड़ गये, न जाने क्यों? शायद वह मेरे पहरावे को देख कर प्रभावित हो

रहे हों कि एक अमीर तबके का आदमी, भी निचले दर्जे के लोगों के झगड़े में पड़ने की कृपा कर रहा है।

लोग मेरे कहने पर हट गये। कुछ आदमियों ने लड़के को उठा कर लारी में डाला। उसका बाप और दो और व्यक्ति साथ बैठे। मैंने बाकी सवारियों से अनुरोध किया कि इन का घर हस्पताल वाली सड़क पर नहीं पड़ेगा, उधर जाने की कृपा करें।

आई। लड़का गलत हाथ पर आ रहा था। साइकल उससे सम्हलता नहीं था, इत्यादि।

आखिर हम सरकारी हस्पताल पहुंचे। रास्ते में लड़के को होश आ गया था। हमने उसे गरम-गरम दूध पिलाया।

आउट-डोर वार्ड ( Outdoor ward ) में हमने एक मेज पर बालक को लिटा दिया, और खुद भी कुछ कसूरवार बालकों की तरह ही दीवार के साथ खड़े हो कर इन्तजार करने लगे।

मुझे हैरानगी लड़के के बाप पर था। बाकी लोगों का रवैया देख कर मुझे भ्रम विश्वास हो चला था कि यह भी डाक्टर का दामन पकड़ कर सच्चे हिन्दुस्तानी ढंग से गिड़गिड़ाना शुरू कर देगा (जैसा मैंने पिछली शाम सिनेमा में एक हिन्दुस्तानी अभिनेत्री को करते देखा था), "डाक्टर साहब मेरा बच्चा। मेरा बच्चा आपके हवाले है डाक्टर साहब। इसे राजी कर दो। मैं तुम्हारा जुग जुग दास। डाक्टर साहब मेरा घर उजड़ जायगा।"

नहीं। लवर का बुत बन कर वह शेर उस लहूलुहान पुतले को देख रहा था। उसने एक बार भी ड्राइवर को बुराभला नहीं कहा। एक बार नहीं पूछा, कि यह सब क्यों हुआ, कैसे हुआ।

दस मिनट गुजर गये, पन्द्रह मिनट गुजर गये। डाक्टर और कम्पाउन्डर अपनी चमकती हुई सफेद पोशाकों में मीठी

मोटी नरसों के साथ बातें करते हुए इधर से उधर निकल जाते। फीमनों, मौसम से पहले ही निकाल लिये हुए छैल छबीले सूटों में मलबूस, मैडिकल कालेज के नवयुवक, बगल में कापियां लिये आपरेशन थियेटर में जमा हो रहे थे। हर बार हमारी यह आशा कि अब पट्टी शुरू होगी, अब खून बन्द होगा, अब होगा, हैरान हो कर रह जाती।

साढ़े आठ बज चुके थे। न मैं रात को ही सो सका था और न सुबह से मुंह हाथ तक ही धोया था। तबियत में कमजोरी आने लगी। एक के बाद दूसरा सिगरेट पी कर सबर करता रहा। आखिर मुझ से न रहा गया। मैंने डाक्टर को सचेत किया।

मुझे बाद में पता चला कि वह डाक्टर मेरे एक मित्र का ही एक घनिष्ट मित्र है, और एक निहायत शानदार आदमी है। अगर यह वाकफियत पहले से होती तो शायद अब तक इंतजार ही न करना पड़ता। लेकिन उस वक्त डाक्टर एक निहायत बेलिहाज लहजे में मुझ पर अंग्रेजी में बरस पड़ा—

"लुक हियर माई डियर मैन ! यू सी आई एम बिजी। मैं कोई अपना दफ्तर ले कर नहीं बैठा हूं। How can I? मैं इनके जख्मों को कैसे धो सकता हूं, जब तक कि पुलिस अपनी तफतीश न कर ले। मैं कानून के बरखिलाफ कैसे जा सकता हूं ?"

कि जब तक पुलिस नहीं आएगी तब तक छोकरे के जख्मों को हाथ नहीं लगाया जा सकता, मेरे लिये एक नया अनुभव था। अब तक मेरा यह खयाल था कि हजूम के विरोध पर फतह पा कर मैंने बालक के जीवन पथ से एकमात्र रुकावट परे कर दी है।

लोग कहते हैं लेखकों का कल्पना विशाल होता है। यह सन्देह की बात है। अगर मुझ में कल्पना होती तो मैं अपनी ज़िन्दगी के कई अनुभवों के आधार पर इस विलम्ब का पहले से ही अनुमान कर लेता। कहीं मुंह हाथ धो लेता, एक प्याला चाय का ही पी लेता। शादियों में, मातों में, कचहरियों में, मैं कई बार देख चुका था, महसूस कर चुका था, कि इस भूखण्ड पर कोई काम आसानी से नहीं हो सकता; कि हमारे वर्तमान समाज में व्यक्ति का कोई महत्व है नहीं। एक जीवन की आपद और सम्पद उस एक जीवन की जायदाद नहीं, वह व्यक्तियों के जीवनों में भी कुछ उमंग लाती है, उन्हें सार्थक करती है।

मैंने लड़के के बाप की ओर देखा। वह लड़के के पास एक स्टूल पर बैठ कर उस के माथे के उस हिस्से पर जो जख्मी नहीं था हाथ फेर रहा था। उसकी आँखें दीवार पर गड़ी थीं। कभी कभी उसके होंठ फुरफुराते और मैं देखता कि वह दुआ कर रहा है। खून की एक बून्द सफ़ेद मोमजामे पर लुढ़कती हुई आई किनारे पर पहुंच कर वह मोटी हुई और टप से फर्श

पर बरसने लगी। कम्पाउन्डर ने रुई का एक फाहा पेरॉक्साइड में भिगो कर घाव पर रखा। मैं घबराहट से तिलमिला उठा।

आधे घन्टे के बाद हन्टर हाथ में लिये हुए हवालदार साहब तशरीफ लाये हुए। जेब में से उन्होंने फीता निकाला और अरदली को लिखाते गये मफसील। दाईं टाग, ४ इञ्च×१ इञ्च×१। इञ्च, एड़ी से ६ इञ्च ऊपर। बाईं टाग, घुटना छिल गया है। पैर बेजुरर, कुछ खरोंचों को छोड़कर। पेट बेजुरर, छाती, साइकल का डण्डा चुभने की वजह से एक पसली दब गई है। दाया कन्धा और पीठ बुरी तरह छिल गई है। माथा १ इञ्च×१ इञ्च×१ इञ्च। सिर की पिछाड़ी ½इञ्च×½इञ्च×½इञ्च। जख्म कारी नहीं हैं। लड़के का नाम, वालिद का नाम। हवलदार दसखत, डाक्टर के दसखत। अरदली ने अधमुर्दा लड़के से कुछ सवाल किये।

इस लम्बी रस्म अदायगी के बाद पट्टी शुरू हुई। लड़के को पीड़ा होती होगी लेकिन वह चीखता चिल्लाता नहीं था। इसके दो ही कारण हो सकते थे। या तो वह एक ऐसे कुलीन घर का बच्चा था जो गरीब होने पर भी अपनी आन नहीं छोड़ते, या वह खून निकल जाने की वजह से अशक्त था। लेकिन अब एक ऐसा मंजर पेश हुआ कि मेरी नजर उस बच्चे की तरफ से हमेशा के लिये दूर हो गई।

मेरे नीले डबल-ब्रेस्ट कोट और ग्रे फलैनल की पतलून कई जगह मिट्टी के दाग धब्बे लग गये थे। मैंने सोचा

हुई बाहर जाकर झाड़ आऊ और कहीं से अगर एक प्याला चाय का भी मिल सके तो पी लू ।

लेकिन ज्यू ही मैं दरवाजे के पास पहुंचा मुझे एक बूढ़े आदमी को, जिसे तीन चार नौजवान थाम कर अन्दर ला रहे थे, रास्ता देने के लिये हट जाना पड़ा। बूढ़े की दाईं बांह खून से तर बतर थी, और दर्द से बेकरार था। बूढ़े को उन्होंने बेंच पर बिठाया। मैंने एक नौजवान से पूछा, क्या माजरा है। पता चला एक पागल कुत्ते ने काट खाया।

मैं अबतक इतना देख चुका था कि मुझे और जोश-बाज करने की इच्छा न थी। मैं यह पहले से जानता था कि बूढ़े आदमी के लिये पागल कुत्ते का काटना खतरनाक होता है। मैं फिर दरवाजे की ओर चला—

एक, काला कोट पहिने, सुन्दर, गठीला नौजवान दो दोस्तों के सहारे लड़खड़ाता हुआ दाखिल हुआ। उसी बावले कुत्ते ने उसका निचला होंठ पूरे का पूरा चबा लिया था। उसके निचले दांत और मसूड़े नंगे होगये थे और कपड़े खून से तर बतर थे।

जीवन में न भूल सकने वाली घटनाओं की परिभाषा यह हो सकती है कि वह घटनाएं इस तेजी और इस खूबसूरती से आती हैं जैसा उनका क्रम और व्यवस्था पहले से किसी ने निश्चित कर दी हो। आम घटनाओं की सी उनमें असलग्नता और निरुद्देश्यता नहीं होती।

अब मैं बाहर न जा सका। कमरा भरता हुआ महसूस होने लगा, जैसे किसी स्वप्न में,, जैसे किसी सैलाब का फाटक खोल दिया गया हो। लड़का और उसकी चोटें, जिन पर मैंने इतना समय और शक्ति खर्च की थी, निरर्थक और दूरवर्ती महसूस होने लगीं।

बाईं तरफ कोने में देखता हूं कि एक नवयुवक, चश्मे लगाये, खड़ा कांप रहा है। उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही हैं। मशीन सा, मैं जाकर उससे कारण पूछता हूं। वह अपनी पत्नी को परदे में पीछे खड़ा कर आया है। उसकी पत्नी के गाल को भी उसी पागले कुत्ते ने काट खाया है। उनकी शादी को अभी तीन महीने हुए हैं।

मुझसे रहा न गया। "मूरख" मैंने कहा, "यह परदा करने का मौका है? देखता नहीं एक डाक्टर है और बीसियों मरीज़। इस तरह कांपने से तेरी बारी कब आयेगी? सामने ला उसे। धक्के दे दूसरे को और आगे होजा। इसरार कर।"

एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे शिकायत की थी कि हिन्दुस्तानी साधारणतः ज़रूरत से बहुत ज्यादा ऊंचा बोलते हैं। अब समझा, क्यों।

जिस लाहौर से मैं परिचित था उसमें अगर किसी का पालतू कुत्ता भी पट्टे में से सिर निकाल कर सड़क पर आजाये तो मार दिया जाता था। लेकिन अब पता चला कि

चारगयिव लाहौर गया है और उसके वासियों को किन हालातों से गुजरना पड़ता है। मिश्रित सदन के बंगलों में रहने वाला मुस्लिम नेता हिन्दुओं से, और हिन्दु नेता मुसलमानों से अपने सहधर्मियों के अधिकार सुरक्षित करने लिये कौंसिल में घन्टों तकरीरें करता रहा, लेकिन शहर की पतली गलियों में स्वच्छन्द मौज करने वाले, बीमारी के चलते फिरते गोदाम, बाजारी कुत्तों से, नागरिकों की रक्षा करनी किसी ने जरूरी न समझी। शायद इसमें गौरव न था।

लड़के की पट्टी खतम हुई और उसे हस्पताल में दाखिल कर लिया गया। हवालदार साहब ने लड़के के वालिद से पूछा "लारी वाले का चालान करवाना चाहते हो ?"

बूढ़ा मुसलमान बोला, "उसका कोई कसूर नहीं है। खुदा ने मेरा लड़का बचा दिया। मुझे और कुछ नहीं चाहिये।"

हवलदार साहब ने अपनी उपस्थिति को कुछ और कारगर बनाने के लिये ड्राइवर से कहा —

"ओ सर्दार, लड़के के इलाज के लिये दस रुपए बाबा को दे दो।"

"हाँ, हां, बजा है। बेटा दस रुपये में। जान-खलासी हो गई। बूढ़े की शराफत है, वरना धर लिये जाते।" कुछ औरों ने कहा।

"लौरियों वालों ने साहब अन्धेर मचा दिया है। उस

दिन अमृतसर वाली सड़क पर ' " किसी दूसरे ने कहानी शुरू की।

"इन्हें छोड़ देना गलती है" एक तीसरे व्यक्ति ने कहा।

ड्राइवर ने फौरन एक नोट निकाल कर बूढ़े के सामने किया। बूढ़े ने बड़ी सादगी के साथ उसका हाथ वापस फेर दिया और लड़के के सिरहाने जा बैठा।

मेरा माथा उस ज़ईफ इन्सान के आगे झुक गया। दिल में कुछ आह्लाद, कुछ आशा की झुरझुरी हुई। लेकिन भूखे पेट बहुत से सिगरेट पी लेने ने शायद, या भीड़, दवाइयों की बदबू और खून ने उस झुरझुरी को दबोच दिया। नीचे, और नीचे, बहुत नीचे।

हवलदार साहब ने मुझ से कुछ सवाल पूछे। मैंने जवाब दिये या नहीं, याद नहीं। मेरा सिर अकस्मात चकराने लगा, टाँगें लरजने लगीं, पसीना आने लगा। मेरा बेंच पर बैठ जाना जरूरी था, एकदम जरूरी था, मैंने सोचा। मैं गिर गया।

लेकिन वह बेहोशी नहीं थी। किसी ने मुझे उठाया। वह मेरा एक दोस्त ही था। मुझे एक ब्राण्डी का तेज घूंट पिलाया गया। कुछ देर बाद मैं किसी की मोटर में घर रवाना हुआ।

मोटर में बैठते वक्त मैंने देखा कि, हस्पताल की ड्योढ़ी में एक खूबसूरत बग्गी आ कर रुकी है। बग्गी का मालिक सफेद कमीज, सलवार पहने, खुद लगाम थामे है। उसको

गर्दन और मुंह गूत से तरबतर हैं। बाजू भी जख्मी है। यह भी उसी एक कुत्ते का शिकार हुआ है।

बस, इसके बाद मैं सिविल लाइन्स की सुरन्नी चौगिरद में चला आया। शाम को एक बार खयाल आया हस्पताल में जा कर पता करूं कुल कितने आदमी आये, लेकिन पैर न उठे।

दूसरे दिन मैंने तमाम अखबार देखे। किसी में इस वारदात का जिक्र तक न था। क्यों होता? कोई साम्प्रदायिक झगड़ा थोड़े ही फूटा था कि सुर्खियां भरतीं। इन महत्त्व रहित घटनाओं से किसी अखबारवाला को क्या काम?

लेकिन अगर जिकर होता भी तो परवाह किसने करनी थी। ऐसी खबरें मैंने खुद पढ़ने की कभी कोशिश नहीं की थी।

अलबत्ता, उसके कुछ ही दिन बाद मैंने एक दिन अखबार में देखा कि गुजरात शहर में एक बावले कुत्ते ने इक्कीस लोगों को काटा।

बावले कुत्ते द्वारा काटे हुए आदमी के इलाज पर ठीक कितना खर्च होता है, मैं नहीं जानता। लेकिन डेढ़ सौ से कम किसी हालत में नहीं। चाहे वह खुद खर्च करे चाहे सरकारी अस्पताल करे। अगर हिसाब लगाया जाय तो पता चले कि पंजाब में की साल बावले कुत्तों का शिकार होनेवालों के इलाज पर एक गरीब प्रान्त का कितना धन सर्फ होता है। या दूसरे शब्दों में पंजाब सरकार बाजारी कुत्तों की परवरिश पर, और उन

का खेल, कूद का इन्तजाम करने के लिये, कितना धन फी साल खर्च करनी है।

लेकिन सभी बच थोड़े जाते हैं। पागले कुत्ते ने जो शुरू किया उसे गरीबी और अशिक्षा तोड़ चढ़ाती है।

शायद इसके बीस दिन बाद मुझे फिर सरकारी अस्पताल में जाने का इत्तिफाक हुआ। जिस दोस्त ने मुझे ब्रांडी पिलाई थी, उसी ने मेरी याद ताजा करते हुए कहा—"एक हाइड्रोफोबिया (कुत्ता मिरगी) का केस आया है। देखोगे?"

वह मुझे एक बन्द दरवाजे के सामने ले गया, जिसके शीशों (और लोहे की सिलाखों के भी—शायद) के पीछे एक विभ्रम पीड़ित नौजवान खड़ा हाथ हिला रहा था। हमें देख कर वह बार बार हाथ जोड़ने लगा और हमें अपनी तरफ बुलाने के इशारे करने लगा। तदन्तर उसने आंखों से और मुंह के इशारों से हमें कुछ समझाना शुरू किया। मेरे मित्र ने उस केस की 'हिस्ट्री' बतानी शुरू की, लेकिन इसकी जरूरत न थी। मरीज की बात मुझे साफ समझ में आ रही थी।

"मैं किसी का घरेलू नौकर हूं। लेकिन मत समझो मैं किसी अदना जात का आदमी हूं। अपने गांव में हमारी काफी खेती बाड़ी है, लेकिन सब होते हुए भी नकद पैसा नहीं था। इसीलिये मैंने नौकरी की। कुछ दिन हुए मैं साइकल पर, सब्जी खरीद कर, घर लौट रहा था। एक कुत्ते ने मुझ पर

हमला किया। लेकिन मैं तेजी से साइकल भगा ले गया। पांव में कुत्ते का एक दांत लगा था, बहुत मामूली। उस दिन घर में बहुत से मेहमान आये हुए थे। मैं घर पहुंचते ही काम में लग गया, और बहुत रात गये तक व्यस्त रहा। सोते वक्त कुछ दर्द महसूस हुआ, लेकिन मैं बहुत थका हुआ था। कुछ हफ्ते बाद मुझे मिरगी पड़ी और बाबू जी ने फौरन यहां भेज दिया।

"मेरा अंग-अंग टूट रहा है। लेकिन मैं बेहोश नहीं हूं। मैं तुम्हें कुछ समझाना चाहता [redacted]। तुम्हें मैं कोई व्यक्तिगत काम बतलाना नहीं चाहता, क्योंकि तुम नहीं करोगे। तुम मेरे घरवालों को मेरी मौत की खबर भी क्यों देने लगे? लेकिन एक बात है—सुनो,

"मैं अनपढ़ था, निकम्मा था, ठीक। लेकिन मेरी जिन्दगी क्या एक पागल कुत्ते के हाथों यों खतम हो जाने के लायक थी? सोचो बाबू, शहरों में आवारा कुत्तों की क्या जरूरत है? शायद तुम मेरी जिन्दगी की भी कुछ जरूरत नहीं समझते, लेकिन मेरी बीवी तो समझती है, मेरे मां बाप तो समझते हैं?

"अच्छा न सही, न सही, लेकिन अगर मैं इस हालत में बाबू जी के नन्हे बच्चे को ही काट लेता?

"तुम डरते हो, बाबू। तुम्हें मेरी आंखों से, मेरे खुले हुए मुंह की झाग से डर लग रहा है। तुम्हें मेरे नाहक जीवन पर

और मेरी नाहक मौत पर तरस आ रहा है। लेकिन मैं बता दूं। तुम भूल जाओगे। मेरे जाने ही यह कमरा फिर भर जायगा। जाओ, हटो यहां से, हट जाओ। यह तमाशा नहीं है ।"

उसने एक भयानक शकल बना ली, जिसे देखना असह्य था, और हाथ से दरवाजे का हर शीशा चूर चूर कर डाला।

मैंने अपने मित्र से कहा, "इसे मार्फिया दे कर खतम क्यों नहीं कर देते। इसका बचना तो असम्भव है।" उसने जवाब दिया, 'The law does not allow"

आप सोचेंगे, अब यह घटना भी क्या पढ़ने लायक था?

—बलराज साहनी।



# सत्रह

—सन् १९२७ की याद पड़ती है —

शैशव-काल बीत चुका था, धीरे से मैंने पन्द्रहवें वर्ष में पांव रखा ही था कि माता जी के मुख से अपने विवाह का जिक्र सुना। बड़ा आश्चर्य हुआ। गांव में स्वच्छन्द विचरण करने वाली होने के कारण मैं अपनी अवस्था के विषय में कोई ज्ञान नहीं रखती थी। मैं तो अभी मां की वही नन्हीं बच्ची थी।

एक दिन मां ने कहा— 'देहली चलेंगे, तुम्हारी मौसी की शादी है।' —मैं बहुत प्रसन्न हुई। एक बार देहली गई जरूर थी पर उसकी स्मृति लगभग मिट चुकी थी। इधर देहातों में रहने के कारण मैं शहर की हलचल देखने को लालायित भी थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि मैंने कभी अपनी याद में 'लड़की की विदा नहीं देखी थी— मैं फूली नहीं समाई। अपनी उस कल्पना को याद करके मैं आज भी हंस पड़ती हूं।

हम देहली पहुंचे, दूसरे दिन मौसी का साया था, मौसी के साथ मामा का भी विवाह था। यह विवाह का पहला दिन था— मैं बड़े हर्ष से सब कार्य देख रही थी कि यकायक एक बराबर की मौसी ने आकर चुपके से कहा— "भाभी! यहां एक हमारे भाई आयेंगे— तुम उन्हें देख लेना। जी जी (हमारी मां) उनसे तुम्हारी शादी करेंगी।' —अरे राम, यह क्या गड़बड़ है— मुझे मन-मन में माता पर क्रोध आया और मनमें ही खूब बड़बड़ाती रही — "जाने क्या होगया है, इन्हें! हम शादी नहीं करेंगे।" —इस भाव में बचपन का अधिकार ही था। कुछ देर में मौसी ने आकर फिर इशारे से एक युवक को दिखाकर कहा— 'वही हैं वे!' —मैं झल्ला उठी— "हमें नहीं देखना है।" —और मैं वहां से हट गई।

शहर के युवकों और खासकर कालेज के डिग्री प्राप्त जैंटिलमैनों की चित्तवृत्ति से मैं अभीतक अपरिचित थी। दुर्भाग्य वश किसी ने उन महाशय से भी कह दिया मेरे विषय में। बस, यहीं से यह प्रसंग शुरू होता है। वे महाशय निर्लज्जता की प्रतिमूर्ति थे। अब देखिये— जहां मैं वहीं आप-अपनी दो बहिनों के संग। विवाह के घर में इतना किसको ध्यान था? मुझे बड़ा क्रोध आया। मैं बैठी हुई बहिन को सुला रही थी— कोने से दबी हंसी सुनी, देखा-पास में वे महाशय और इधर उधर उनकी दो बहिनें— ओफ, यह त्रिमूर्ति कब मेरा पीछा छोड़ेगी? मैं इन सब बातों से अपरिचित थी,

मैंने मन ही मन शपथ खाई कि अब कभी शहर में नहीं आऊंगी। मेरे वे सरल ग्रामीण भाई-बहिन ही भले।

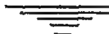
इस नाटक का यहीं अन्त नहीं हुआ, उसी रात मामी को देखने मैं कई बहिनों के साथ जनवासे में गई — माता ने हाथों में तोड़े ( एक गहना ) पहना दिया। मैं एक ओर बैठी थी, मेरी दायीं ओर गैस का लैम्प जल रहा था। अचानक सामने के द्वार पर जो दृष्टि गई तो देखा ' ' महाशय उंगली से इशारा करके मुझे दिखा रहे हैं, बार बार 'तोड़े'— कह कर आप अपने साथ के मित्र को मुझे दिखाते थे। ५ मिनट ठहर कर फिर चले गये — इसी प्रकार वे ४-५ बार अपने एक एक साथी को ले आते और दिखा कर फिर लौट जाते। आज भी मैं नहीं भूल सकती उस जलन को जो मेरे हृदय में उस समय हो रही थी। मैं द्वार की ओर पीठ फेर कर बैठ गई, साथ की कन्याओं ने कई बातें पूछीं पर मैं नहीं बोली। मैं लज्जा, क्षोभ, ग्लानि से दबी जा रही थी। घण्टे चार मास की तरह बिता कर मैं जनवासे से लौटी और सीधी अपने कमरे में जा कर पलंग पर पड़ गई और रोने लगी — एकान्त कमरे में हृदय का आवेग पानी बन कर नेत्रों से बहने लगा। हंसती हुई गई और रोती हुई लौटी। किसी काम से माता जी कमरे में आई, मुझे ऐसे पड़ा देख कर बोलीं — "अरी पगली, यों क्यों पड़ी है ?" — मैंने मां को देखा, कुछ बोलना चाहा पर क्रोधावेश से कण्ठ रुक गया। माता जी ने घबरा कर पूछा — "क्या बात है ?"

मने रो कर कहा — "मैं '         ' से हर्गिज शादी नहीं करूंगी
" और अपनी बीती सुनाई। माता जी ने कहा — "अच्छा, अब तू चुप हो जा। मैं भी ऐसे नालायक का नाम नहीं लूंगी।" — कहते-कहते उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा तो देखा मैं बुखार में भुन रही थी — १०३ डिग्री पर पहुंचा हुआ ज्वर !

यह थी शहर की देन !! उसके बाद मुझे पूरे तीन दिन तक जोर का ज्वर चढ़ा और माता जैसे तैसे विवाह समाप्त होते ही घर आने को मजबूर हुईं। ट्रेन में ही मेरा बुखार उतर गया और हृदय हल्का हुआ। देहली के विवाह भी न देख पाई।

यह घटना चाहे शहर की बहिनों के लिये साधारण हो पर मेरे छोटे से जीवन में इस प्रकार की यह पहली और अन्तिम घटना है। अपने इस अपमान को मैं जीवन के अन्तिम क्षण तक नहीं भुला सकती।

—रतनकुमारी माथुर।



## अठारह

गंगा के तट पर एक भिखारिन को देखा। और सब भिक्षुकों से कुछ अधिक आकर्षक थी वह भिखारिन। मैंने उसकी ओर देखा और कुछ देर बराबर देखता रहा, पैर रुक गये न जाने क्यों, अपने आप। एक प्रकार का मेला सा लगा हुआ था तट पर। काफी भीड़भाड़ थी। मेरे मित्र 'राकेश' ने जो एक सुन्दर कवि हैं, मुझे हाथ पकड़ कर आगे चलने को खींचा परन्तु मैंने उन्हें रोक लिया। मैं भिखारिन की ओर 'राकेश' का हाथ पकड़े हुए ही आगे बढ़ गया। भिखारिन ने भी मेरी ओर देखा, साधारण दृष्टि से नहीं, बड़ी तीखी दृष्टि से, सम्भवतः उसमें कुछ घृणा की मात्रा भी मिश्रित थी। सभी घाट पर घूमने वालों की ओर वह करुणा की दृष्टि से देख रही थी। मैं भी अपनी ओर उसकी वही दृष्टि देखने की इच्छा से आगे बढ़ा था। कोई अपने लिये विशेष बात मैं उससे नहीं

चाहता था। परन्तु संसार में इच्छित वस्तु बहुत कम प्राप्त होती है।

भिक्षा की थाली उसके हाथ में थी। उसने मेरी ओर से अपना मुख फेर लिया। नहीं जान सका मैं कुछ भी। 'राकेश' भी मेरे इस किये गये अपमान पर मुस्करा दिया यह कह कर कि "चलो यार क्या रीझे तुम भी एक भिखारिन पर? अजीब आदमी हो तुम भी।" कोई जवाब नहीं दे सका मैं उस समय, क्योंकि वास्तव में बात कुछ ऐसी ही थी कि यदि उस मेरे भिखारिन के प्रति होनेवाले आकर्षण को रीझने की उपाधि भी न दी जा सके तो इतना तो सत्य ही था कि मैं उससे कुछ बातें अवश्य करना चाहता था। मैंने बड़े धैर्य से काम लिया। कुछ और आगे बढ़कर चार पैसे उसकी थाली में डाल दिये। पैसों का थाली में गिरना था कि उस भिखारिन ने अपने हाथ की थाली, जिसमें काफी पैसे थे, पृथ्वी पर डाल दी। मैं सन्न सा रह गया, एक दम ठगा सा। वास्तव में मैंने कोई अनर्थ किया। केवल एक भिखारिन की थाली में चार पैसे ही तो डाले थे। यह अनर्थ नहीं होता। मैंने भिखारिन से कुछ भी नहीं कहा, एक शब्द भी मेरे मुख से नहीं निकला, 'राकेश' इसका साक्षी था। मेरा इसमें कोई दोष नहीं था। फिर उसने क्यों थाली पृथ्वी पर डाल दी?

कुछ देर मन इन्हीं भावनाओं में उलझा रहा कि वह भिखारिन आखों से ओझल हो गई। मैंने सारी भीड़ छान डाली

परन्तु फिर उसका कहीं कोई पता नहीं चला। अब भी अक्सर उस ओर नहाने जाता हूं परन्तु वह भिखारिन फिर नहीं दिखलाई दी।

*　　　*　　　*　　　*

मैं विवाहित हूं, देवि! यही तो उत्तर था इस पाषाण हृदय वाले मनुष्य का। उस कोमल हृदय पर वज्र गिरा दिया। कितना कठोर है मेरा हृदय भी? उसका वह भोला मुख मेरे कठोर शब्दों को सुनकर फूल सा कुम्हला गया था। झुलसा गई थीं कोमल पखड़ियां। लोग मुझे भी भावुक कहते हैं, कवि कहते हैं, कितने मूर्ख हैं सभी? कितना निर्दय हूं मैं नहीं जानते वे इस रहस्य को। कितना कठोर व्यवहार था मेरा उस देवि के साथ, जिसने अपना सर्वस्व बिना किसी इच्छा के इस प्रकार समर्पण कर दिया था? कितनी निर्दयता थी उस भेंट को इस प्रकार ठुकरा देना केवल विवाहित होने के बन्धन मात्र पर? क्या इस प्रकार निर्दयता का पालन करना ही मेरा कर्तव्य था? नहीं सुलझा सकूंगा जीवन भर इस ग्रन्थि को। उसका मैंने अपमान किया निश्चय है केवल इतना ही।

*　　　*　　　*　　　*

शान्ता और उस भिखारिन में कितना साम्य था।
कैसे भूल जाये मेरा यह पागल हृदय?

—यज्ञदत्त शर्मा।

## उन्नीस

शुरू से ही जीवन में आँखें खोल कर चलने का अभ्यासी रहा हूँ। सदैव यह मानता आया हूँ कि संसार बहुत बड़ा है जिसका ओर छोर भी कल्पना में अटने से इन्कार करता है। उससे भी एक बड़ी चीज है—अधिक महान्, अस्थिर दुरूह और अतल अकूल। वह है जीवन। परन्तु जीवन से भी बढ़ कर महान है मनुष्य। जीवन विश्व की जड़ में अपने को सींच कर अज्ञात ही रह जाता है और मानव समझ में न आने वाले जीवन के मूल में पैठ कर एक अंधी, अप्रतिरोध्य गति से संघर्ष होता है। तब तो वही सब से बड़ा ठहरा न।

कहानी एक चरित्रहीना विधवा की है। मेरे जीवन में सच पूछा जाय तो एक भी ऐसी घटना नहीं है जिसे मैं महिमा-मंडित जान कर पाठकों के सम्मुख रक्खूं। परन्तु आज जो लिखने बैठा हूँ वह भी मेरे जीवन में बड़ी प्रचंडता ले कर आई है। संसार की कठोरता और उत्पीड़न का बोझ अपने ऊपर

ले कर चलने वाली एक अभागी मानवी की यह कथा है जो आजीवन बूंद-बूंद दर्द इकट्ठा कर के अपने भीतर भरती गई और अन्त में सारा दुख विधाता का ही दुख मान कर प्रेम में ही जीवन की इतिश्री बोल गई। एक विधवा के लिये प्रेम करना और वह भी एक ब्राह्मण विधवा के लिये एक ठाकुर से प्रेम करना और आजीवन मस्तक ऊंचा करके चलते जाना उस रूढ़िग्रस्त देहाती-समाज में जहां आडम्बर और रूपक ही आदमी को पुजवाता है सुनने में चाहे जितना भी साधारण लगे परन्तु है एक महान प्रयोग ही।

असल में वे मुझ से आठ साल बड़ी थीं। दूर के रिश्ते की बहिन भी उन्हें कह लिया जा सकता है। मुझे उनके पास बैठ कर घंटा उन से बातें करने का संयोग प्राप्त हुआ था। उस समय तक औरत मेरे लिये एक बेमानी चीज थी। कवि बच्चन के शब्दों में सेक्स की चेतना पूर्ण रूप से जागृत होते हुए भी और "वासना पूर्णतम होते हुए भी तब मैं संयमी था।" आज तो मैं बड़ा से बड़ा पातक आंखें ढक कर ज्यों का त्यों निगल सकता और उन्हीं का भीतरी बल मेरे जीवन में उठती हुई आंधियों को थामे भी रहता है। परन्तु उस समय तो मैं सच्चा हो कर किसी के प्रति निवेदित और समर्पित होने का मूल्य भी नहीं जानता था। शहर में होस्टल में रह कर पढ़ता था और जब छुट्टियों में गांव जाता था तब कुन्ती दीदी की गाथा सुन

सुन कर, गांव वालों के मुंह से उनका और ठाकुर का रास विलास सुन-सुन कर मन ही मन नारी की इस कमजोरी पर दुःख होता था। सती का आदर्श तन देना अवश्य है परन्तु एक भूखे मानव की भूखी वासनाओं को नहीं वरन् पाप और पुण्य एकाकार कर देने वाली अग्नि की रक्तिम लपटों को। समाज से अलग रह कर भी कोई इस प्रकार उसकी कल्याण-कामना और मंगलाकांक्षा में जुट सकता है, यह सब मैं उस समय कहां समझ पाता। समाज का जूठन बनना पसन्द कर के भी और जीवन के साथ एक नया प्रयोग करके, जो जीवन भर एक अनिर्वचनीय सुषमा और सान्त्वना पाती रही अपनी ऐसी दीदी को मैं उनके जीते जी तो समझ ही न सका।

नौ वर्ष की अवस्था में वे विधवा हुई थीं। विधवा हो जाने से जीवन की साधें, क्षुधा, तृष्णा, द्रोह, मोह प्रवृत्तियाँ और प्रेरणायें कहां चली जायें। उन्हें भी तो इसी हृदय के घोंसले में रहना और मानव का जीवन बनाना या बिगाड़ना होता है। दीदी ९ साल की अवस्था में विधवा हो कर जब बढ़ कर १३ साल की होने आई, तभी उन्हें यह मालूम पड़ने लगा जैसे उनका कुछ खो गया है। उन्होंने मुझे कई बार बताया भी था कि कैसे धीरे-धीरे उनके अन्दर यही भावना जोर पकड़ती रही थी कि उन के अन्दर न तो विचार ठहरता था और न अविचार, न पाप और न पुण्य। १३ वर्ष की उमर की उस

अधपकी विधवा न जब ब्राह्मण परिवार में होने वाला सारा पूजा पाठ, धर्म-कर्म और उपदेश स्वयं की बातों को मानने से इन्कार करना शुरू किया तो सारे गांव में तहलका मच गया। एक विधवा जो अपने पूर्वजन्म के पसे ही पापों से इस जीवन म मसन दी गई। फिर मा आखें नहीं खोल रही। न जाने फिर तो कितने जन्मों तक उसे ऐसे ही जलना और सूलना पड़ेगा। परन्तु दादी की मुस्कान तो ऐसी थी जिसे आदमी भूल नहीं सकता था। क्षण भर हा कर उसी क्षण बुझने वाला अनबूझ मुस्कान देखने वाले के अन्तर में कभी की दुबकी हुई — छिपी हुई पीड़ा को घनीभूत करती था। उस समय समवेदना का एक ऐसा पुलक प्रवाह पूरी देह में फूटता था जो देखने वाले को अभिभूत करके दीदी को उनकी दृष्टि में अति मानवी बना देता था। उनकी वाणी की गीली वेदना मर्म को छूती थी और उनकी मुस्कान की रुदकी अन्तर को भिगो देने वाली कचट रखती थी।

एक बात और पूछना चाहता हूं। आखिर जीवन में पाप-पुण्य की समीक्षा करने के मान हैं कौन से और कहां। यदि हम अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार न करें और बाहर से असत्य को अग्राह्य कर दें तो जीवन के कितने अमौल्य और अभाव मिट न जांय। उठती हुई लौ सी जिनकी जिंदगी हो और अंगार सी जिनका आत्मा हो, उनके सामने भी जब हम

कर्तव्य और अकर्तव्य के ऊपर अपना मन्तव्य देने लगते हैं और पाप फन्द की परिधि में ला कर उन्हें सताने लगते हैं तब हमारी मज्जा में टिका हुआ पशुता का कीडा व्याद मे खोखला नहीं कर चलता। यही बात रह रह कर मेरे मन में आया करती है। दीदी को समाज ने कितना गलत समझा। मैंने भी उन से कितने समय तक कितनी घृणा नहीं की। उनके मुह पर उन्हें कामुकी और वेश्या तक कह डाला। बार बार उनके बुलाने पर भी नहीं गया। यही नहीं ठाकुर की स्त्री से भी मैंने कई बार यह भी कहा कि दखो कुन्ती का दोष इस मे जो है वह तो है ही, परन्तु तुम्हारा दोष भी इस में कम नहीं है। तुम क्यों नहीं ठाकुर को समझातीं और उसे कुन्ती के पास जाने से, उसे रुपया और जेवर देने से मना करतीं। कुन्ती तो बदमाश है ही, परन्तु तुम कैसे अपने पति को इस पापकुण्ड में जाने दे रही हो। तुम्हारे सामने तुम्हारे विवाहित पति पर एक गैर औरत कब्जा किये है, तुम्हारे घर का सारा सामान और जेवर उसके यहा पहुचता जा रहा है फिर भी तुम कोई ध्यान नहीं देतीं।

परन्तु आज तो म उतना छोटा और कच्ची बुद्धि का नहीं हू। आज सोचता हू कि वह बेचारी करती भी तो क्या ? ठाकर पुरुष था, उसका स्वामी था। उसके शरीर का — दिल, दिमाग का, उसकी प्रवृत्तियों और इच्छाओं पर उसे पूरा

अख्तियार था। वह जब चाहे अपनी आत्मा पर्नी का इसे मान करे और जब चाहे तब उस निर्जीव हू दे पिंजर को तुरन्त पर धूल में फेंक दे। उस समय ठकुराइन बेचारी मेरी बातें सुनतीं और रो कर रह जातीं। मैं उनकी मनोदशा और मनोव्यथा को तो न समझता था परन्तु कुन्ती दीदी की तरफ से मेरा मन घृणा से भर भर आता।

कुन्ती के और ठाकुर के इस गुप्त सम्बन्ध से आर खुले हुए पापाचार से, उस के माता पिता, चचा, भाई जब जब उठ तब उन की स्वेच्छता और उच्छृंखलता से परेशान हो कर उन लोगों ने उसे घर से निकाल दिया। उस परीक्षा के समय ठाकुर सामने आया और उसने गांव में एक अलग मकान ले कर कुन्ती को उस में रक्खा। सारे गांव में तहलका मच गया। दिन-दहाड़े एक ब्राह्मणी जा घुसा और विधवा हो, इस प्रकार एक ठाकुर द्वारा रख ली जाय। गांव के ब्राह्मणों में क्षोभ फैल गया। मैं भी जब गर्मी की छुट्टी में गांव गया और वहां आकर यह सब सुना तो मारे क्रोध के उबल पड़ा। शाम को कुन्ती के यहां जाने की सोच ही रहा था कि मोकराना ने आ कर कहा—
"छोटे भैया, बिटिया ने आपको बुलाया है।"

यह दुःसाहस? बेशर्मी की भी एक हद होती है। मैंने सोचा कि यों तो शायद मैं न भी जाता परन्तु अब तो जरूर जाना चाहिये। मैं चला। घर में भीतर पहुंचते ही उस

एकहरी, वशीभूत और स्निग्ध नारी ने दीपक की लौ सी फूटते हुए कहा—'बैठो, छोटे भैया। शायद तुम बिना बुलाये यहां आना पसन्द न करते, इसी से मैंने सुनरो को भेजा था। देखो यह घर तुम्हें पसन्द है न।'

मैं उस साल हाइस्कूल की परीक्षा देकर गया था। शहर में रहने वाला और तुर्की ब तुर्की जवाब देने में कुशल। कुछ कुढ़ते हुए बोला— 'मकान तो बुरा नहीं है परन्तु यहां जो कुकर्म होता है वह हम लोगों को गांव में सिर नहीं उठाने देता।'

फिर वही सौहार्द भरी हंसी जैसे भाग्य के साथ और जीवन की विभीषिकाओं के साथ एक गहरा समझौता होगया हो। जो झेला है सब भोग है और जो झेल रही है वह सब रस बनता जाता है। बोली क्यों भैया कुकर्म यहां क्या होता है? जो घर घर में होता है वही तो यहां भी होता है। संसार में एक पति के होने से मेरा कोई नहीं है, यों माता पिता, चाचा चाची सब हैं। कौन ऐसा है मनमें जो मेरा जहर धारण करे। मिठास तो सभी चाहते हैं। वे भी चाहते हैं, हम भी चाहते हैं। परन्तु मेरी जो ज्वालायें हैं, जो अघट हैं, उन्हें कौन सहन करेगा। और जो यह सब बरदाश्त करता है— सहर्ष मेरा नाज और अन्दाज उठाता है, उसे मैं यदि घण्टे दो घण्टे के लिये अपने शरीर पर पूरा अधिकार दे देती हूं तो क्या बुरा करती हूं।'

एक निर्मय स्नेह से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने बहुत सी बातें कहीं थीं। यह मेरी उनकी आखिरी भेंट थी। उन्होंने बाद में कई बार बुलवाया भी परन्तु मैं न गया। चलते समय तक मैंने उन्हें न जाने कितनी बातें कह डाली थीं, चलने के पहिले उन्होंने कहा था—'देखो छोटे भैया औरत और मर्द में कोई विशेष भेद नहीं होता। परन्तु फिर भी एक दूसरे के लिये एक दूसरा आवश्यक है। फिर मेरे लिये प्रेम करना और प्रेम करने का बनना यह गलती कैसे है। प्रेम है क्या? अपने को अपूर्ण से पूर्ण करने का यत्न करना। जिससे मिल कर हम पूर्ण बनने चलें वही हमारा प्रेमी है। फिर दान तो स्त्री का धर्म है उसकी मूलवृत्ति है। मैं कैसे अपने पास इतना रूप, इतना यौवन और भावनाओं का एक अपना ही संसार लिये अकेली जी सकती हूँ। मुझे भी तो एक सम्बल चाहिये। आवरण और निरावरणता का प्रश्न भी जहां न रह जाय। मेरा सारा अस्तित्व जो आ गोकरण के लिये है अस्वीकरण की ओर जाय भी तो कैसे?'

ऐसी ही न जाने कितनी बातें उन्होंने कहीं थीं और मैं उनकी उच्छृंखलता और नीचता पर प्रज्वलित होता घर लौट आया था।

* * * *

छुट्टी खतम होने में ७-८ दिन ही रह गये थे। इसके बाद फिर मैं कुन्ती के यहा नहीं गया। यद्यपि जाने की इच्छा

यदा कदा होती थी परन्तु फिर भी जा नहीं पाता था। सहसा एक दिन सुबह उठकर जो सुना उससे बड़ा विचित्र कौतुक हुआ। इधर दो तीन दिन से ठाकुर बीमार था और आज ही रात को तीन बजे चल बसा था। आखिर शत शत ब्राह्मणों के अभिशाप खाली कैसे जाते।

प्रश्न आया—अब कुन्ती का क्या होगा? परन्तु तत्काल उत्तर मौजूद। उसके लिये क्या है? यह तो चरित्रहीना है। उस बार एक ठाकुर था— अब की बार कोई बनिया सही। जो तन बेचने वाली है उसे कैसा भय और विवेक। फौरन मैं घर से निकल कर ठाकुर के दरवाजे पर पहुंचा। लोगों की भीड़ लगी थी। घर में भीतर आकर देखा— एक ओर खाट पर ठाकुर का स्वस्थ सुन्दर शरीर पड़ा है और ठकुराइन रह २ कर मर्म भेदी चीत्कार कर उठती है। भाइ बन्धु और रिश्तेदार सब खड़े समझा रहे हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि ठाकुर ने एक पैसा भी नहीं छोड़ा। यहां तक कि ठकुराइन के पास जितना जेवर था सब उसने उतरवा कर कुन्ती को दे डाला था। ठकुराइन के दो तीन भाई थे जो सब आगये थे। यह सब कच्चा चिट्ठा जिसे ठकुराइन रो रोकर गांव के समग्र जनों के सामने सुना रही थी सुनकर उन्हें बड़ा तैश आया। बोले— हम लोग अभी उसके यहां जाते हैं और उसका सब जेवर छीने लाते हैं। ठाकुर साहब के जीते जी उसने खूब मौज कर लिया।

अब हम उसे घर से निकाल कर बाहर कर देंगे। घर तो हमारा ही है।

ठकुराइन ने कहा—नहीं भैया। तुम लोग उसके यहाँ न जाओ। वह स्वयं इस समय दुःख में व्याकुल होगा। फिर उन्होंने उसे जो दिया वह तो मेरा ही था। मेरा उसके ऊपर क्या अधिकार है और तुम्हें ही क्या अधिकार है जो तुम उसे जाकर वापस लाओ। उनकी मर्जी में मेरी भी रजा है और मैं यह सब नहीं होने देना चाहती। मैं किसी न किसी प्रकार अपना और अपने बच्चों का गुजर कर ही लूंगा।',

परन्तु वे तो ठाकुर थे। पुरुष थे। नारी हृदय के भीतर की आवाज कैसे सुन लेते। तीनों युवक उत्तेजित हो कुन्ती के मकान की तरफ चल दिये। पीछे दस-बारह आदमियों की भीड़ होगी। जो उनके दाहिने बायें, चल रहे थे, उनमें एक मैं भी था। सोचा आज कुन्ती को समाज, नैतिकता, मर्यादा और नारीत्व से द्रोह करने का फल मिलेगा। तब मैं ऐसा ही सोचता था और मेरे विचार ऐसे ही थे। जीवन का बहुत संकुचित रूप ही देख पाता था यद्यपि उसे आंख खोलकर देखने का पूरा प्रयत्न करता था। कुन्ती का घर वहाँ से लगभग १ फर्लांग पर था। रास्ते में ठकुराइन के एक भाई ने थाने पर से दो पुलिस वालों को भी साथ ले लिया। शायद अपने कृत्यों को न्याय और आईन से परिचित करके उनका औचित्य कायम करने के

लिये। उधर गाव के लग ठाकुर की मिट्टी उठाने जा रहे थे और इधर हम लोग कुन्ती के दरवाजे पर पहुचे। दरवाजा खुला था। बाहर से आवाज दी गई। जब कुन्ती न बोली तो बाहर ५-६ मिनट तक प्रतीक्षा करने के बाद सब लोग भीतर घुसे। नौकरानी भी शायद कुन्ती को ठाकुर की मृत्यु का हाल सुना कर फिर अपनी पुरानी मालकिन के पास लौट गई थी। आगन में पहुचते ही सब लोग चौंक पड़े। सामने का दृश्य बड़ा ही भयानक था। मैं तो सब से पीछे था और यहा तक आने में एक प्रकार की ग्लानि और आत्म सकोच सा हो रहा था। प्रेरणा फिर भी खींच लाई थी। इस लिये मैं सब से बाद में चौंका, यद्यपि मेरा चौंकना जीवन भर के लिये था। हम लोगों ने जो देखा उसे कह ही देना होगा। सामने दालान में कुन्ती धन्नी से रस्सी बांध कर निर्जीव, निष्प्राण लटकी हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी निर्दोष आखें रोते-रोते सूज गई थीं और मृत्यु की भयानक यत्रणा से अति विकृत हो गई थीं। जीभ बाहर निकल आई थी, परन्तु चेहरे पर एक अति मानवीय सौन्दर्य था। एक अनुपम नारी भाव था मानो मर कर भी अपने मानवी होने का प्रमाण दे रही हो।

तीनों नवयुवकों की आखों से ज्वालायें निकलने लगीं। परन्तु अन्त में न जाने कहा से पानी आ कर छलक ही पड़ा। पुलिस वाले थाने की ओर चले दारोगा को ...

वाले इस समाचार का पूरा विस्तार देने के लिये अब यह। रह गया है और क्या है। वहीं खड़े खड़े मैंने पुरानी यादों को देखना शुरू किया। न जाने कहाँ पास आने की हिम्मत न हुई। मेरी जिज्ञासा शान्त थी — केवल मूक और सदा अवश मैं खड़ा रहा था। इस असमंजसता में मैं जो था वहां था यहीं मैंने मेरा यह जन्म सफल कर देने के लिये जरूरी जान पड़ती थी। इस लड़की ने भी फिर शाम से जीना आरम्भ किया होगा। कैसी उमंग से यौवन आने पर प्रेम के सहारे पहचाने होंगे। लेकिन आज कैसी उम्र कैसी उफनाहट न यह चला गया। जिसकी नहीं हड्डी हड्डा, मज्जा मज्जा तक रही। मुझे यह भी याद आया — उसने उस दिन कितनी सच्चाई से यह कहा था कि — "छोटे भैया, तुम याद रखना कुछ भी कभी वैश्यावृत्ति करके तुम लोगों का मुँह काला नहीं करेगी।" आज मालूम हुआ इस विचार में भी एक ऊँचाई और महत्ता थी। आज मैंने उसे जाना और सहन किया।

तब से आज तक यह रूप आँखों के सामने घूमा करता है। अभी तो घाव ताजा है। ज्यादा दिन भी नहीं हुए। केवल ८ साल की घटना है। जीवन में तब से एक गांठ पड़ गई है। आग्ने की तरह यह सब उठा — हृदय में और आज कागज पन पर बहता जाता है। जैसे सृष्टि, समाज, जीवन और मृत्यु सभी अर्थहीन हुए और तर्क संगति से रहित हों। काश आज

पकड़े नहीं मिलती। मन घुटा करता है। दुनिया को देखने की निगाह ही बदल गई है। जिंदगी की एक एक जड़ जैसे इस महाविषाद और प्रतारणा से सिंच जाती है। हम किसे क्या कहें और समझें। किस के मानस की गहराई तक हमारी पहुंच है। किसके जीवन की अन्तशिरा हम देख पाते हैं। जीवन की गलियों में भटकता हुआ मैं उन्हें भूल न सकूं यही मेरी पुकार है।

—अचल



## वसि

—ने १४ वर्ष के छोटे से जीवन में कई अधिक विचित्र घटनायें भी घटी हैं। वही खेल का लोना जगना, खाना पीना, हँसना खेलना और कभी-कभी एकाध शरारत कर लेना! यही सब तो साधारण बातें। लेकिन एक बात— हाँ, केवल एक ही बात अविस्मरणीय हो गई—जिसका मुझे कभी स्वप्न में भी ध्यान न था। वास्तव में मैं उसे अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकती—न भूलूँगी।

लगभग वर्ष भर की बात रही होगी। यही सर्दियों के दिन थे। उन दिनों मैं खूब मस्त थी। 'दस' दर्जा पास करके ननसाल से आये थोड़े ही दिन हुए थे। माता पिता खूब 'दुलार' करते। मैं माता जी का बना 'छोटी बेटी', भैया बहिनों की 'छोटी जीजी' और मामा मौसियों की 'छोटा भाई' ही बनी हुई थी। हालांकि मुझ से छोटे और कई भाई-बहिन हैं—पर क्योंकि मैं और जीजी ( श्री रत्नकुमारी माथुर ) सदा संग रहे—

इसलिये मैं 'छोटी' और जीजी 'बड़ी' कहलाती रहीं। इसलिए कई भाई बहिनों से बड़ी होकर भी मेरे 'छोटेपन' में कोई फर्क न आया। अब भी मेरी छोटी कहलाने की हास्यास्पद आदत नहीं गई है। यदि कोई अभी भी मुझे 'बहुत बड़ी' कह दे या सोच ले, तो मन ही मन बड़ी चिढ़ लगती है। पर इस आदत में—उसी 'एक घटना' ने अन्तर तो डाल ही दिया है।

हां तो मैं खूब स्वतन्त्र, लाडली और चचल थी, उन दिनों। न किसी की फिक्र, न किसी का भार। इसी मस्ती में दिन बीत रहे थे कि—

यहां के 'डाक्टर' की बदली हुई और उनके स्थान पर आये सर्जन श्री              माथुर। आप मेरी नाते की एक बहिन के पति हैं। इसलिए मैं उनका आना सुनकर खूब खुश हुई। फिर जब एक दिन वे सपत्नीक हमारे घर खाना खाने आये तो बातचीत के सिलसिले मे मालूम हुआ कि सर्जन साहब के भाइयों में से दो भाई २४ और २० सालकी आयु के हैं, अविवाहित। दोनों B S C और पटना कालिज में इजीनियरिंग के विद्यार्थी हैं। फिर क्या था—वही हुआ जो आम तौर पर होता है। बड़े भाई श्री              जी से हमारी जीजी की शादी करने का माता पिता ने विचार कर डाला। खैर साहब! Apply किया गया सर्जन साहब के माता पिता के पास। और इस बातचीत के सन्देश-वाहक बन गये हमारे एक

स्नेही मामा जी! प्रार्थना करने के बाद बड़ी व्याकुलता और उत्सुकता। मेरे माता पिता सर्जन साहब के माता पिता के निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे।

फिर एक दिन मामा जी आये! उनके प्रसन्न मुख से ज्ञात होता था कि वे कुछ खुशखबरी लाये हैं। इसी अनुमान के आधार पर मैंने जीजी को खूब ही बनाया। पर मुझे नहीं मालूम था कि इस विषय में मामा जी और माता पिता में क्या बात चीत हुई। चाय आदि पीकर मामा जी लौट गये। मैं निश्चिन्त चित्त से धीरे धीरे रसोईघर से माता जी के कमरे की तरफ जा रही थी। मैं अभी बरामदे में ही पहुंच पाई थी कि सुना—माता जी जीजी से कह रही थीं—"उन्होंने कहा है कि बड़े लड़के की तो कहीं और बातचीत हो रही है, छोटे की हम कृष्णा से करने को तैयार हैं" इतना सुनकर मेरे आश्चर्य का सीमा न रहा। इस तरह उछल कर कमरे में आ पड़ी जैसे बिजली ने कैरेण्ट मार दिया हो। उस असीम आश्चर्य में अन जाने मेरे मुंह से निकल गया—हैं मेरे लिये??" माता जी और जीजी खिलखिला पड़ीं। बड़े हाल को छुपाते हुए जीजी बोलीं—"हां पगली! तेरे लिये।" तब मुझे होश हुआ कि मैं किसके आगे क्या कह गई। उफ तब तो मारे लज्जा के कट सी गई।

उसके बाद ६ जुलाई सन् १६३६ की स्वर्ण-सन्ध्या

ने मेरी अल्हड़ता का उपहास करते हुए मुझे भारी गुरुतर भार की सूचना दी। और सब लोगों ने कहा—"कृष्णा की सगाई हो गई।" साथ ही मामा जी के अत्यधिक प्रयत्नों से उसी दिन जीजी की भी सगाई श्री के साथ हो गई।

सब कुछ हो गया और सब कुछ ही हो जायगा। पर मैं नहीं भूल सकती नहीं भूल सकती अपने उस अथाह विस्मय को—माता जी के शब्दों को और अपने पागलपन को! ओह! मेरे छोटे जीवन में वही एक महान् विस्मयकारी घटना हुई है। वह चाहे किसी के लिये साधारण हो—पर मेरे लिए उसे भूल सकना एकदम असम्भव है—जीवन के अन्त तक

—कृष्णाकुमारी माथुर



## इक्कीस

"पडित बाबा, तनी पानी पिया देता, बहुत पुन्न होई, रोआ-रोआं जस गइयैं बाबा।" कहते हुए एक अछूत गिडगिड़ाने लगा। उसका मुंह सूखा आ रहा था। बोलना कठिन था, तिस पर भी पडित जी न पसीजे। वे बोले, "कौन जात हउए ?"

हाथ जोड कर अछूत ने डरते डरते कहा, "रैदास भगत हई महाराज।"

"चल, चल ससुर भगत बगत हउवे। का हम पानी पियाय के लोटा भरस्ट करीं। आगे बढ़ा, हम ना पिआइब उआइब।"

"बाबा हम लोटवा थोड़ै मागत हई। अरे, दूरै से पिया देता, हम चिरुआ से पी लेइत कोनों लोटवा थोडो जुठाइब।"

"नाहीं, नाहीं, ई सब ना होई। बाह ! दूरै से पिया दा, धरे धरिया, [redacted] तुमरे मुंहें में जाई न; तब भला हमार लोटा

कइसे सुद्ध रह सकैला। हम लोग बाम्हन हई, नड़ेरची से रहीला। पानी पियाउल त दूर रहल हम लोग अछूतन के परछाईं से घबराइला। जा, जा नग मत करा।"

* * *

सारी पृथ्वी कुम्हार के आवा सा तप रही थी। पशु पक्षी तक अपने घरों में जा छुपे थे। आदमी का तो म्मारण तथा बाहर निकलने का साहस नहीं होता था। चरवाहे अपने मुंडासे का तकिया बनाए पड़ों के नीचे सोने का प्रयत्न कर रहे थे। पास ही, गाय बैल पीपल के नीचे बैठे जुगाली कर रहे थे। परन्तु मुझे एक आवश्यक कार्य से बाहर निकलना ही पड़ा। घोड़े पर आ रहा था। मैं पसीने से तर था सो तो था ही, बेचारा घोड़ा, उसका भी सारा शरीर भीग गया था, मुंह से फेन छूट रहा था, नथुने फूल आये थे। आगे ही पेड़ की छाया देख कर वह हिनहिनाने लगा। पेड़ की छाया में पहुंचने पर मने रास खींची। घोड़े की तो जैसे इच्छा ही यह थी, वह एक दम रुक गया। मैं उतरा और खड़ा अपने साफे के छोर से पसीना पोंछ रहा था कि सुनाई पड़ा, "पंडित बाबा, तनि पानी पिया देता।" और साथ ही मैंने देखा, एक अछूत-गिड़गिड़ा कर पानी मांग रहा है और पण्डित उसे झिड़क रहे हैं। मुझ से यह न देखा गया, मैंने कहा, "पण्डित जी, काहे नहीं ओके पानी पिया देना? पानी पिअउले से लोटवा थोड़े असुद्ध हो जाई।"

"वाह ! तू के हऊआ। हम पानी पिआवें खातिर आपन धरम भरस्ट करी। हमार एक रुपया क लोटा असुद्ध हो जाइ त कोई देवै वाला न होई।"

"पंडित जी, खुलना मत ओ, बिचारे के पानी पियादा, भला हो, तुम्हें एक रुपया न चाहीं ? पियाओ महाराज।"

पंडित जी ने पानी काढ़ा और पिलाना शुरू किया। देखते-देखते प्यासा, गरीब अछूत एक लोटा पानी पी गया। एक भी बूंद पानी पृथ्वी पर न गिरा। पानी पिलाने के बाद उस ब्राह्मण ने कहा, "रुपया दिहल जाय बाबू।"

मैंने जेब से एक रुपया निकाल कर उस ब्राह्मण के सामने फेंक दिया और उसने चील की तरह झपट कर उसे उठा लिया। तब मैंने कहा, "अच्छा, पंडित जी, असुद्ध लोटवा ओ के देदा ना। ऊ त अब तुहरे कौनो काम क न रहल। ई बेचारा ले जाइ। ओ के कोनो काम देई।"

ब्राह्मण बोला, "हैं, हैं, महाराज ! ओ के रहन दिहल जाय। हम आगी ओगी में डाल के सुद्ध कै लेब। ई चमार सियार ससुर का करी। बाबू, आ के हई ?"

मैंने कहा, "पंडित जी, बहुत बुरा क बात हौ। अब हिन तो आपक पानी पिअउले मे लोटा असुद्ध होत रहल औउर धरम भरस्ट होत रहल, अब लोटवा कहे से ले जाइल। जाई यही के दे दिहल जाय।"

"नाहीं, नाहीं सरकार, रहन दिहल जाय, हम विधी से सुद्ध कै लेब न।" अब पण्डित जी गिड़गिड़ाने लगे।

पण्डित के इस ढोंग को मुझ से अब न सहा गया। मैंने कहा, "चुप रहा पण्डित जी, हमऊ ब्राह्मण हई पर कोई दुखिया के जल देहेले आज तक लोटा असुद्ध होत न सुनली। आप लोग बहुत बुरा करीला। अइसन धरम कब तक चली। अब देखल जाय आपक धरमवा पाँचे रुपया में हवा हो गैल। अगर इ गरीब दुखिया के खुशी खुशी पानी पियउले होतीं त रोओं रोओं असीस देत। इतना कठोर ना होवै के चाही। पण्डित जी, जे तू हँ बनउले हौ उहे ऊ गरीब के भी बनउले हौ। दुखियन पर हमेशा दया करै के चाही।"

पण्डित जी भौंचक्के से हो कर मुँह ताकने लगे, वे कुछ बोल न सके। वह चमार प्रसन्नता के मारे गद्‌गद् हो उठा और बोला — "धन्न हई धरमावतार, आपै लोगन के पुन्न परताप से धरतिया थमल हौ नहीं त कबै परलय हो गयल होत। तुमहू देखा पण्डित बाबा सरकारो त बाहमन हुअवें। बाबू हजूर आप के परवकत हैं। आप क बाल बच्चा फूलें फलें।" पण्डित जी ने धीरे से लोटा रख दिया। मेरा इशारा पाते ही उस अछूत ने लोटे को उठा लिया और बोला "बाबू हजूर तू हँ सुखी रक्खें।" मैंने लगाम खींची, लगाम खिंचते ही घोड़ा हवा से बातें करने लगा। —हरि औंध

## वाड़स

गोकर्ण महाबलेश्वर कारवार और अंकोला इन दो बन्दरों के बीच, तदड़ी बन्दर से ६ मील दक्षिण में ठीक समुद्र के किनारे पर है। दक्षिण में इसका माहात्म्य काशी से भी ज्यादा है। लिंग जमीन के अन्दर है। जलहरी में बीचोबीच एक छेद कर दिया है। उस छेद के अन्दर हाथ का अंगूठा डालने से लिंग का स्पर्श होता है। दर्शन करने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। पुजारी लोग कहते हैं कि लिंग की शिला अत्यन्त कोमल है। भक्तों के स्पर्श से उसके शीघ्र घिस जाने का डर है। अतः पुराने लोगों ने यह व्यवस्था कर रक्खी है कि बहुत समय के बाद अच्छा सा शकुन हुआ कि जलहरी निकाल ली; आस पास का कूड़ा-कचरा दूर कर दिया और, मूल शिवलिंग को दो तीन हाथ गहरा खुला रक्खा। इस तरह कुछ मास तक खुला रखने के बाद सफेद चूने से उसे आसपास भरवा कर चिनवा देते हैं। इस क्रिया को, अगर मैं भूलता

नहीं है, तो वहां 'अष्ट बंध' या ऐसा ही कोई नाम दे रक्खा है।

हम जब कारवार में थे तो एक बार 'कपिला षष्ठी' जैसा एक दुर्लभ अष्टबंध का योग आया। पिताजी, मां और मैं, हम तीनों इस यात्रा के लिये गये। मुझे तदडी बन्दर पर झुलाने के लिये 'कुली' भेजा गया। मैं उसकी पीठ पर सवार होकर गोकर्ण की ओर चल दिया। कोटि तीर्थ में नहाया। गोकर्ण महाबलेश्वर का दर्शन किया। स्मशान भूमि और उसकी रखवाली करने वाले हरिश्चन्द्र का दर्शन किया। ऐसा भी एक तीर्थ देखा जिसके पानी में हड्डियां डालने से वे गल जाती हैं। अहिल्याबाई के अन्न क्षेत्र में उस साध्वी की प्रतिमा भी देखी। भारी माथा और दो हाथ वाले गजानन महाराज का भी दर्शन किया। ब्रह्मा जी की एक मूर्ति देखी। और सबसे महत्व की बात तो यह कि रावण द्वारा की हुई लघुशंका का एक कुण्ड भी देखा! आज भी वह भरा हुआ है और नाक को फाड़ डालने वाला दुर्गंध बुरी तरह बसाता है। और भी बहुत कुछ देखा होगा, पर अब वह याद नहीं रहा। हां, इस प्रदेश की खासियत बतलाना तो भूल ही गया। घर गरीब का हो या धनवान का, जमीन गारे की, लेकिन काले संगमर्मर जैसी सख्त, चिकनी और चमकीली होती है। ऐसी कि उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा जा सके। गर्मी के दिनों में दोपहर के समय बिना कुछ बिछाये आदमी उस जमीन पर आदमी आराम से सो सकता है। समय २ पर गोबर और काजल को मिलाकर

सौंपी पोती जाती है। मगर यह रोपना हाथ से नहीं होता। सुपारी के पेड़ के ऊपर एक तरह का पुट्ठा-सा निकलता है। उसी से जमीन घिस घिस कर चिकनी की जाती है। इस पुट्ठे का वहा की भाषा में 'पोवली' कहते हैं।

गोकर्ण से वापस आते समय तदड़ी तक समुद्र के रास्ते स्टीमलांच में बैठ कर जाने का विचार था। तूफ़ान का तूफ़ान शुरू होने में बहुत ही थोड़े दिन रह गये थे। स्टीमर एक हफ्ते के ही बाद बंद हो जाने वाला था, इसलिए लौटने वाले यात्रियों की भीड़ भी बेशुमार थी। तदड़ी बन्दर से चढ़ने वाले लोगों को स्टीमर में जगह मिलेगी या नहीं, यही शंका थी। इसी से स्टीमलांच में बैठकर स्टीमर तक जल्दी जा पहुँचना हमने ज्यादा पसन्द किया।

गोकर्ण का बन्दर कुछ बांधा हुआ नहीं है। किनारे से छाती जितने गहरे पानी में चलकर जाना पड़ता था। फिर वहां से डोंगी में बैठकर स्टीमलांच तक जाना होता था। जवान आदमी तो उस डोंगी तक चलकर ही जाते, और औरत बच्चे कुली के कंधे पर बैठकर या दो कुलियों के हाथों की पालकी बनाकर उस पर बैठकर जाते।

शुरू में ही एक अपशकुन होगया। एक गरीब बुढ़िया ने, जो बेहद मोटी थी, लेकिन जिसके पास दो कुलियों को देने लायक पैसे न थे, एक लोभी कुली को मामूली से कुछ ज्यादा मजदूरी देने का लालच दिलाकर कंधे पर ले जाने के

लिये राजी कर लिया। वह था कमजोर। किनारे पर बैठ गया। विधवा बुढ़िया उसके कन्धे पर सवार हुई। पर कुली ज्योंही उठने लगा कि दोनों, अपना वजन न सभाल सकने के कारण, तले ऊपर उलट गये। इसी समय अचानक एक बडी सी लहर ने आकर दोनों को जल समाधि दे दी।

जहाज लगभग आखिरी होने के कारण गोकर्ण में भी यात्री बहुत थे। वे सब स्टीमलाच में किस तरह समाते? इसलिए सौ आदमी जिसमें बैठ सकें इतनी बडी किश्ती स्टीम लाच के पीछे बाध दी गई थी। और उसके पीछे कस्टम विभाग के एक हाकिम की सफेद डोंगी भी बाध दी गई। मैंने देखा कि जहाँ खानगी किश्तियों के बल्ले करछुल की तरह गोल होते हैं, वहा कस्टमवालों के बल्ले क्रिकेट के बल्ले की तरह लम्बे २ और चपटे होते हैं।

हमारा काफिला बक्र पर चल दिया। एक दो मील गये होंगे कि आकाश बादलों से घिर गया; हवा जोर से चलने लगी। जैसे कोई बहुत बडी दावत हो, इस तरह लहरें जोर से उछलने लगीं, किश्तिया डगमगाने लगीं, और स्टीमलाँच पर भी हलचल बढने लगी। अरे! यह क्या? बूंदें? बरसात की बूंदें! बेर जैसी बडी २ बूंदें! अब क्या होगा? लहरें जोर से उछलने लगीं। स्टीम लाच तूफानी घोडे की तरह ऊपर नीचे कूदने लगा। पीछे की किश्ती की डोरियाँ कर्र्र्र् कर्र्र्र् की आवाज करने लगीं। इतने में स्टीमलाच और

किश्ती के बीच में एक बड़ी हिलोर आई कि किश्ती लापता !

मैं स्टीमलांच में बायलर के पास के लकड़ी के फर्श पर बैठा हुआ था। हमारे कप्तान को जितना जल्दी हो सके स्टीमर तक पहुंचना था। उसने स्टीमलांच पागल की तरह पूरे जोश में छोड़ दिया। तख्ते गरम होगए। मैं जलने लगा। कुछ नहीं सूझता था कि क्या करूं ? जरा भी खिसकूं तो 'समुद्रार्पणमस्तु' होजाय ! और बैठना तो लगभग नामुमकिन ही हो रहा था ! बड़ी मुश्किल से इस मुसीबत से छुटकारा मिला। समुद्र की एक प्रचण्ड लहर ऊपर चढ़ आई और उसने मुझे नखशिखान्त स्नान करवा दिया। अब फर्श गरम रह ही कैसे सकता था ? पिताजी घबड़ाए। मा को कुल देवता का स्मरण सूझा। "मंगलेश ! महारुद्र ! मा बाप ! तुम्हीं हमें पार लगाओ।" बरसात मूसलधार पड़ने लगी। हम स्टीमलांच वाले कुछ सुरक्षित थे। पर उस किश्ती में जो लोग थे उनका क्या ? शुरू शुरू में स्टीमलांच को पानी काटकर चलना पड़ता था इससे उसके अन्दर पानी आसानी से आजाता, लेकिन किश्ती को हरएक ऊपर उठने वाली लहर पर भी सवार होना पड़ता था। इसलिये चाहे जितनी हिलती डुलती फिर भी पानी उसके अन्दर न आता। परन्तु जब हवा और वर्षा में स्पर्धा शुरू हुई, और दोनों का अट्टहास्य बढ़ा तो एक ही हिलोर के साथ आधी किश्ती पानी से भरने लगी। लहरें जब तक सामने

से आतीं तबतक तो ठीक रहता, किश्ती लहरों पर चढकर आगे बढ़ती, कभी वह लहरों के शिखर पर, तो कभी दो लहरों के बीच के समतल में। कभी २ एक लहर पर से किश्ती लुढक पड़ती कि तुरन्त नीचे से नई हिलोर उमड़ कर आती और नाव को अधर में रोक लेती। ऐसी अचिंतित हलचल से भीतर खड़े हुए लोग टकराकर धड़ाधड़ एक दूसरे के ऊपर गिर पड़ते।

लेकिन लहरें एक बाजू से खूब थपेडने लगीं। नाव के अंदर की औरतों और बच्चों के पास चिल्ला चिल्ला कर रोनेके सिवाय दूसरा उपाय ही न था। वहां जितने जवां मर्द थे, वे सभी डोल, गागर, घडा, बाल्टी, जिसके हाथ में जो आया, उसे ले ले कर पानी भर भर कर बाहर उलीचते थे। कायर एंजिन के पम्प इससे ज्यादा क्या काम कर सकते थे? बडी कठिनाई से पानी निकाल पाते कि दूसरी क्रूर लहर निकट से हास्य करती हुई किश्ती से टकराती और अंदर आ जाती। इस समय की चीखें और पुकारें कान के परदे फाड रही थीं, कलेजे को चाक कर रही थीं। कुछ यात्री अवधूत दत्तात्रेय स्वामी के भजन गाने लगे, तो कोई पंढरपुर के विठोबा को बुलाने लगे। किसी ने अंबा भवानी मनायी तो किसी ने विघ्नहर्ता गणेश का आव्हान किया। शुरू शुरू में स्टीमलांच के कप्तान और खलासी हम सब को धीरज बंधाते, समझाते — "अरे तुम डरते क्यों हो? जिम्मेदारी तो हमारी है, हमने ऐसे कितने ही तूफान देखे हैं।"

लेकिन देखते-देखते मामला इतना बेढब हो गया कि कप्तान का भी मुंह पीला पड गया। वह कहने लगा, "भाई ! अब रोने से क्या लाभ ? मनुष्य को एक न एक दिन मरना ही है, फिर वह बिछौने पर हो या घोड़े की पीठ पर, शिकार में या दरिया में। तुम देखते ही हो, हम से जितना कुछ हो सकता है उपाय कर ही रहे हैं। मगर इन्सान के हाथ में है ही क्या ? जो मालिक करे वह ठीक।" मैं उसके मुंह की तरफ ताक रहा था। चलने से पहले जो व्यक्ति गाजर की तरह सुर्ख था, वही अब लाजवती के पत्तों की तरह मुरझाया हुआ किंकर्तव्य विमूढ़ खड़ा था।

मैं इस वक्त निरा बालक तो था ही, लेकिन कोई कठिन दुरवसर आ पड़ने पर बालक भी तो उसकी गहराई को समझ सकता है। पल पल पर अपनी जगह से डिग रहा था, स्थान भ्रष्ट हो रहा था। बड़ी कठिनतापूर्वक दोनों हाथों से पकड़ कर अपनी जगह थामे हुए था। हमारा सारा सामान एक कोने में पड़ा हुआ था। उसका कौन फिक्र करता ? मगर पूजा की तमाम देव मूर्तियां और नारियल बेंत की एक छोटी सी पिटारी में रखे हुए थे, उसे मैं अपनी गोदी में ले कर बैठना नहीं भूला था।

मेरे मन में कैसे कैसे विचार उठ रहे थे ! वह मेरी भोली भाली भक्ति का काल था। सुबह सवेरे रोज दो घंटा तक मेरा भजन चलता। जनेऊ नहीं हुआ था, अतः सन्ध्या-पूजा तो कहां से करता ? फिर भी जब पूज्य पिता जी पूजा करने बैठते

तो उनके पास बैठ कर उन्हें मदद करने में मुझे बड़ा आनन्द मिलता था। मन में विचार आया कि आज जो भाग्य में डूबना ही बदा होगा तो इन देवताओं की पिटारी को अपनी छाती से सटा कर मैं डूब जाऊंगा। दूसरे ही क्षण विचार आया, अगर मा के देखते लाच में से पानी में उलट पड़ा तो माँ की क्या दशा होगी। यह विचार तो इतना असह्य हो गया कि गला रुंध गया, दम घुटने लगा, छाती में पत्थर लगा हो इस तरह दर्द होने लगा। मैंने परमात्मा से प्रार्थना की कि डुबाना ही हो तो इतना करना कि मा और मुझे, एक दूसरे को हृदयालिंगन करते हुए डूबने देना।

प्रत्येक बालक मन में इतना तो विश्वास रखता है कि उसका पिता धीरज का समुद्र है। चाहे आसमान टूट पड़े, परन्तु पिता अपना धैर्य न खोयेगा। और जब ऐसा मौका आ जाता है, पिता को हक्काबक्का और घबराया हुआ देखता है तब बालक की हालत कुछ की कुछ हो ही जाती है। मैं तूफान से इतना न डरा था, बरसात से भी इतना डरा न था। मनुष्य की बू आवे तो उसे खाने के लिये अपना मुंह फाड कर आती हुई लहरों को देख कर भी मैं इतना नहीं डरा, जितना कि उस दिन पिता जी का गमगीन चेहरा देख कर और उनकी द्रवित दयार्द्र वाणी सुन कर डरा।

सब कोई कप्तान से पूछते, 'अब कहाँ आ पहुंचे हैं ?' चारों तरफ, जहा नजर डालें वहा बरसात, हवा ...

जायँ। आखिर ऊपर ही से लंगर फेंक दिये गये और खलासी लांच की छत पर खड़े हो गये, और लंबे-लंबे बांसों से स्टीमर की दीवार के साथ टकराने वाली हिलोरों की टक्कर रोकने लगे। जहां लहरें लांच को फेंकने लगतीं कि खलासी अपने लंबे-लंबे बांसों की नोक को ढाल बना कर सारा भार अपने हाथों और पैरों पर झेल लेते। फिर भी अंत में स्टीमर की सीढ़ी के साथ स्टीमलांच की छत टकरा गयी और एक लम्बा तख्ता कड़कड़ टूट कर समुद्र में गिर पड़ा।

मैं पास ही में था। इस लिये स्टीमर में अंदर जाने का पहला मौका मुझी को मिला। जाना कैसा? गेंद की तरह फेंका जाने वाला था। कप्तान खुद और एक दूसरा खलासी स्टीम-लांच में खड़े रह कर एक एक आदमी को पकड़ कर, स्टीमर की नसैनी की सब से निचली सीढ़ी पर खड़े हुए, खलासी के हाथ में फेंकता जाता। इस में सावधानी यही रखी जाती कि लहरों की तली में जब लांच उतर गया हो तब प्रतीक्षा में रहते और ज्योंही दूसरे ही क्षण लहरों के शिखर पर लांच आ जाता और सीढ़ी भी बिल्कुल निकट आ जाती कि झट से आदमी को फेंक देते। अगर दोनों तरफ के खलासी यात्री के हाथ पकड़े ही रहें, दूसरे ही क्षण लांच तली में उतर जाय तो उस आदमी के टुकड़े टुकड़े हो जाय। मैं ऊपर चढ़ गया और पीछे मुड़ कर मां आ रही है या नहीं, यह देखने लगा। एक

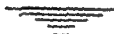
बिलकुल अपरिचित मुसलमान को मा के हाथ की फूडनी थामे आते देख मेरे मन में न जाने क्या आया। परन्तु यह तो अपने प्राण बचाने का समय था। ऐसे समय क्या कोमल भावुकता काम आती? थोड़े थमे ही थे कि पिता जी भी आ गये। देवताओं की पिटारी तो मैंने कंधे पर रख ली थी। ऊपर अच्छी सी जगह खोज कर हमें बिठा कर पिता जी फिर अपना सामान लेने के लिये वापस गये। मैं श्रद्धालु बालक जरूर था, लेकिन पिता जी पर उस समय मुझे सचमुच गुस्सा आ गया,— भाड़ में जाय यह सामान! अपने प्राणों को फिर से संकट में डालने के लिये ये फिर क्यों जा रहे हैं? पर वे तो तीन बार गये और वापस आए। आखिरी बार वापिस आ कर बोले, 'गोकर्णमहाबलेश्वर के प्रसाद का नारियल पानी में गिर ही पड़ा।' उसी क्षण मा और मैं, बोल उठे, मा ने कहा —'अरे रे!' और मैंने कहा, 'बस इतना ही?'

लांच वाले यात्रियों के, चढ़ आने के बाद, अब किश्ती वालों की बारी आई। वे सब चढ़े। उसके बाद लांच और किश्ती निशाचर भूतों की तरह चीखती चिल्लाती तटड़ी के किनारे की तरफ गयीं और किनारे पर तपस्या करते बैठे हुए यात्रियों को बारी-बारी से लाने लगीं। अब तूफान कुछ शांत हो चला था। लेकिन अंधेरी रात और उछलती लहरों के बीचमें इन लोगों की जो हालत हुई उसका वर्णन कर ही कौन सकता है?

स्टीमर यात्रियों से ठसाठस भर गयी। जो कोई भी बोलता, यही बात सुनाई पड़ती कि उसका सामान समुद्र में बह गया है, डूब गया है। आखिर सब यात्री आ गये। प्रभु की कृपा कि एक भी प्राण हानि नहीं हुई। स्टीमर चल पड़ा। और लोग अपनी अपनी पुरानी यात्रा के ऐसे ही संकटपूर्ण स्मरण एक दूसरे को सुना सुना कर आज के दुःख को भुलाने लगे। रात को बड़ी देर तक किसी को नींद नहीं आयी। मैं कब सो गया, कब कारवार बंदर आ गया और हम कब घर पहुंचे, मुझे यह कुछ भी याद नहीं है। लेकिन उस दिन के तूफान की घटना तो मानो कल ही हुई हो, ऐसी याद स्मृतिपट पर ताजी बनी हुई है। ठीक है —

दुःखं सत्यं, सुखं मिथ्या; दुःखं जन्तोः परं धनम्।

—काका कालेलकर



## तेईस

सन १९३८ की बात है। जगत्प्रसिद्ध पहलवान गामा मैसूर आये थे, अपने परिवार समेत। शहर में हर आदमी की जबान पर उन्हीं का नाम नाच रहा था। वे मैसूर के सुप्रसिद्ध हरडूंड फोर्ट रोड पर सीता विलास धर्मशाला में उतरे थे। धर्मशाला के सामने खूब भीड़ लगी रहती थी।

ग्यारह बजे का समय होगा। मैं कालेज जा रहा था, साइकल पर। मेरे घर से कालेज जाने के रास्ते पर हारडूंड फोर्ट रोड पड़ता था। वहां पहुंच कर मैंने देखा कि धर्मशाला के सामने खूब भीड़ लगी है। कारण तो मालूम था ही। फिर भी कुतूहलवश भीड़ की तरफ देखते देखते साइकल पेडल कर रहा था।

इतने में एक दुर्घटना होगई। मैंने साइकल किसी आदमी पर चला दी। जब घबराहट के साथ मैंने सामने देखा

तो कालेज के मेरे अध्यापक सामने थे। उस समय मैं कितना शर्मिन्दा हुआ हूँगा और मेरे मन में कैसे कैसे भाव उठे होंगे, यह कल्पना करने की चीज है। अध्यापक जी को चोट तो लगी हो, लेकिन उनकी मुरीदार धोती मडगार्ड से अटक कर फट गई थी। वे अपनी फटी हुई धोती को पकड़े हुए उसे समाल रहे थे। मुझसे यह सहा नहीं गया। मैं उस तरफ शरम के मारे गड़ा जा रहा था, एक तरफ पछता रहा था कि मैंने कैसी मूर्खता की और साथ ही साथ अपने भाग्य को कोस रहा था कि ये सज्जन क्यों मेरे ही अध्यापक निकले!

अब तो जो होना था, हो ही गया। सोचने के लिये समय ही कहां था? मैंने साहस बटोर कर सिर्फ इतना कहा—"क्षमा कीजिये जी, मैंने आपसे मूर्खता की साइकल चलाकर महज बेवकूफी की।" इससे ज्यादह मैं कुछ नहीं बोल सका। वे कालेज भर में अपने भोलेपन के लिए मशहूर थे। यद्यपि उनके वर्ग में कोई अनुशासन नहीं रहता था। क्योंकि वे बहुत ही उदार थे, फिर भी साधारणतः सभी विद्यार्थी उनमें बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते थे। मेरी बातें सुनकर उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं जी, यह तो मेरी खुद अपनी ही गलती है कि मैं बीच सड़क से आरहा था; मुझे तो फुट पाथ पर जाना चाहिए था।" उनकी ये बातें सुनकर मुझे पहले तो आश्चर्य हुआ। क्योंकि मैंने उनसे इस तरह के बरताव की आशा ही नहीं की

थी'। मैं सोच रहा था कि कालेज के अध्यापकों के से स्वाभाविक व्यंग के साथ वे मुझे दो चार बातें सुनायेंगे। लेकिन उनकी उस अप्रतीक्षित उदारता ने मुझे चकित कर दिया।

अब तो मुझे कुछ साहस हुआ। मैंने और भी दयनीय अवस्था बनाकर उनसे क्षमा मांगी। हम दोनों अलग हुए।

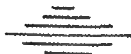
मेरा सौभाग्य था कि उस घटना के तीन दिन बाद उनकी क्लास पड़ा। उस वर्ग का विषय था निबन्ध लिखना। उन्होंने पिछले हफ्ते के निबन्ध पर टीका टिप्पणी का और "The greatest incident in your life" अर्थात 'जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना' पर निबन्ध लिखने को कहा। मुझे उस दिन इतनी खुशी हुई मानो एक साम्राज्य हाथ लग गया हो। मैंने अपने निबन्ध में उपयुक्त घटना का ही सविस्तार वर्णन किया। मैंने उसमें अपना हृदय गलाकर रख दिया था। उसे पूरा लिख जाने पर मेरा हृदय बिलकुल हलका मालूम होने लगा।

मेरी सहन शक्ति की परीक्षा करता हुआ दूसरा हफ्ता धीरे २ आ पहुँचा। उस दिन मेरे मन की उद्विग्नता अपनी चरम सीमा पर थी। मैं इस बात को जानने के लिये कातर हो रहा था कि अध्यापक जी ने उस निबन्ध के बारे में क्या टिप्पणी दी है और उसके लिये कितने अंक दिए हैं। वग

का समय ज्यों ज्यों निकट आता था त्यों त्यों मेरी घबराहट बढ़ती थी। किस प्रकार जब पुस्तक मेरे हाथ में आई तो देखा कि निबन्ध के नीचे Good लिखा है और उसके लिए मुझे ६३ अंक मिले हैं। अध्यापकों के उदार हृदय ने मुझे वशीभूत कर लिया।

यह घटना मेरे हृदय की अमर स्मृतियों में से एक है, मेरे हृदय पटल में अंकित उसका प्रतिबिम्ब कभी नहीं मिट सकता।

एम० द्वारकानाथ।



## चौबीस

कैसे भुलाई जा सकती है वह घटना जो हृदय पटल पर पत्थर की लकीर सी खिंच गई हो, हमारे पास ही एक परिवार रहा करता था, घर में एक बुढिया और उसकी विधवा बहू थी, हरेक परिवार में कुछ न कुछ कमी रहती है, वैसी ही कमी इस परिवार में भी थी। वार्षिक आय शहर के मकान, गाव, गाव की कोठी इत्यादि मिला कर ८-१० हजार थी, भाग्य से एक ही लड़का था जिसकी शादी भी आयु के १४वें वर्ष में करा दी गई थी। बहू की आयु केवल १० वर्ष की थी।

हमारे परिवार का व उस परिवार का कई वर्षों से काफी सम्बन्ध रहा था, इसी लिये मुझे उनके यहा आने-जाने में कोई रोक टोक नहीं थी। उस बुढ़ा को हम मासी नाम से सम्बोधित किया करते थे। वह लड़का (मेरा मित्र) स्वस्थ सुदर था व विद्याध्ययन में भी तेज था, आयु के २० वर्ष ही में

वह बी० ए० में प्रवेश कर चुका था। स्त्री की आयु भी १६ वर्ष की हो गई थी, जीवन के आनन्द का श्रीगणेश हुआ ही था, बी० ए० की परीक्षा देने के २५ दिन बाद ही मोटर अपघात से उस नवयुवक की मृत्यु हो गई, घरमें हाहाकार मच गया। बूढ़ा पर तो मानों बिजली ही गिर पड़ी। मुझे अपघात का पता लगा, मैं अस्पताल पहुंचा, मुझे देखते ही उसके नेत्रों से आंसू बह उठे, मैंने उसे धैर्य्य रखने को कहा, पर उसकी आत्मा उस से शायद कह रही थी कि वह अब नहीं बचेगा। मुझसे उसने सिर्फ इतना ही कहा — "भाई, (उसकी स्त्री) की सहायता करते रहना। मेरी इच्छा है, परन्तु उसकी इच्छा ही तो " वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि उसका गला बंद हो गया, वैसी क्षण एक ओर की सांस के साथ उसकी आत्मा पंचभूत में विलीन होने निकल गई।

उपरोक्त घटना को १ वर्ष से अधिक हो गया था, इस बीच एक नई बात यह हुई कि बूढ़ा का एक भान्जा जो २०० मील से विद्याध्ययन के लिये यहां आया था, कालिज में पढ़ा करता था। इन दिनों मेरा वैद्यक का कार्य भी आरम्भ हो गया था, इस लिये मुझे उनके यहां जाने का समय नहीं मिला करता था, फिर भी महीने में दो, तीन बार हो आया करता था। वह नवयुवक (मासी का भाञा) मेरी नजरों में मुझे बहुत रंगीला दिखाई दिया। इच्छा भी हुई कि कहा

घरायो, मुझे तो कुछ अवइयास मालूम दिया, शायद यह सोचता होगा कि यह तो अशिक्षित वैद्य है" शिक्षित नवयुवकों को वैद्य अशिक्षित ही प्रतीत होते हैं, चाहे यह वैद्य बी० ए०, एम० ए० क्यों न हों,—उसने कहा "नहीं, ऐसा नहीं है, आपका उन से विशेष परिचय न होने से आपने यह सोच लिया। वैसे स्वभाव के बड़े अच्छे हैं, दिन भर घर में बड़बड़ाया करते हैं" मैंने कहा "चलो अच्छा है, फिर भी फूंक फूंक कर पैर रखना चाहिये।" यह सुनते ही वह चुप हो गई, मैं भी चुप था वह चली गई, मेरे मन को एक क्षणिक आनन्द का अनुभव हुआ कि मैंने उसे सूचित कर दिया था।

कुछ ही दिनों के बाद उन दोनों के साथ वृद्धा मामी के भी विचार मेरे विषय में बिगड़ गये, उस रंगीले ने अपनी लाइन इस प्रकार तैयार कर ली थी कि जिस से उन की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़ सके। मैं भी अपने कार्यों में अधिकाधिक व्यस्त होता जा रहा था, वृद्धा मासी बहू सहित, ४-५ महीने हो गये, अपने गांव की कोठी पर चली गई थीं।

६-७ महीने पश्चात एक दिन मुझे एक तार मिला जो वृद्धा मामी ने भेजा था, उसने लिखा था कि "तार पाते ही यहां चले आइये", तबियत खराब है। मैं उसी दिन मासी के गांव चल दिया।

सायंकाल का समय था, आकाश बादलों से घिरा हुआ था। मैंने घर में प्रवेश कर मासी को प्रणाम किया। वे फूट फूट

कर रोने लगीं, मैंने कहा "मासी दु:ख में क्या होता है", मैं उन को शांत करने की कोशिश कर रहा था, पर मैं स्वतः कहां शांत था। दु:ख का एक वेग निकल जाने पर मासी बोलीं—"बेटा मेरा तो सर्व नाश हो गया" मैंने पूछा "विधवा बहू कहां है?" मासी ने कमरे की ओर इशारा कर दिया। मैं उस कमरे में गया, वह पड़ी थी, मैंने आवाज दी उसने नेत्र खोले और मुझे देखते ही उसके नेत्रों से अश्रु बह उठे; मैं भी अपने अश्रुओं को न रोक सका। उसका श्वास ऊर्ध्व हो उठा था, मेरी विचित्र अवस्था थी। बिल्कुल इसी समय मैं अपने मित्र के पास पहुंचा था, जब कि वह अपनी जीवन यात्रा समाप्त करने को था। वही दृश्य आज मेरे सामने था, अस्तु १-१॥ घण्टे बाद ही वह भी इस संसार को छोड़ गई, अब ३-४ दिन मुझे वहां रहना आवश्यक हो गया था।

समय कट नहीं रहा था, साथ लाए हुए 'अर्जुन साप्ताहिक' के अंक भी पढ़ डाले थे, टहलते हुए सोचा अपने एक वैद्य मित्र को खबर कर दूं कि मैं ३-८ दिन नहीं आ सकूंगा। पत्र लिखने के लिए कमरे में रखी एक टेबल के पास गया। कागज के दस्ते को उठा कर उसमें से कागज फाड़ने को ही था कि उसमें से एक लिफाफा टपक पड़ा, उस पर मेरा नाम था, न मालूम क्यों वह डाक में नहीं छोड़ा गया। मैंने खोल कर पढ़ा, यह मृत विधवा बहू का लिखा एक पत्र था, उसका

साराश इस प्रकार है — " रंगीले ने आपके विषय में मेरे और मासी के विचार कलुषित कर दिये थे, उसके पहिले मेरा इरादा था कि मैं अपना दूसरा विवाह कर लू, परन्तु मासी से मैं अपने विचार स्पष्ट न कह सकी, न आप से ही इस बात में मैंने कुछ कहा। जिस समय इन विचारों के वेग मेरे मन में आ रहे थे, उसी समय उस नराधम ने घर में प्रवेश किया, उसकी बातों में मैं आपको भूल गई। उसने कहा भी था कि हम शादी कर लेंगे, अगर मासी ने विरोध किया तो हम यहा से भाग चलेंगे। मैं भावनावश उसकी बातों में फंस गई। पहिले उसने सतति न होने के साधनों का उपयोग किया, परन्तु क्षणिक सुख के आवेश में उन साधनों की साधना में भूलेंच हो जाया करता था आदि।'

मासी पश्चाताप दग्ध हो कह रही थी,—"बेटा मैंने उसे बड़े कटु शब्द कहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि न मालूम उसने क्या खाया जिससे आज उसकी मृत्यु हुई। मुझे पता चलते ही मैंने इलाज करवाया, परन्तु गर्भ में बालक मर चुका था, उसे निकालने आदि में अति कष्ट हुआ और तभी से उस की हालत खराब हो गई।

३-४ दिन वहां रह कर मैं अपने घर लौट आया, परन्तु, यह घटना क्या जीवन पर्यन्त भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं !

—रविनाथ

# पच्चीस

उसे यहां गोपाल ही कहेंगे।

गोपाल के माता पिता नहीं थे, उसके चाचा उसका पालन पोषण कर रहे थे। वह देहली कालिज में पढ़ने के लिये ही आया हुआ था। कालेज की फीस व रहने के खर्च के अतिरिक्त उसके चाचा उसे १५) महीना जेब खर्च के लिये दिया करते थे।

गोपाल एक सकरी सी गली मे, एक ५) महीने के मकान में रहा करता था। मेरी समझ में नहीं आया कि वह होस्टल मे क्यों नहीं रहता। खैर

एक दिन रात के साढ़े नौ बजे थे। सिनेमा से लौट रहा था। घर पर कोई नहीं था, इस कारण बाजार में खाना खा रहा था। सोचा गोपाल से मिलता चलू, उसके पास मेरी कुछ किताबें थीं वह भी ले लूंगा।

गोपाल का मकान गली के आखीर में था। गली में

अंधेरा था, इस कारण सम्हला सम्हला सा आगे को बढ़ा। गोपाल के मकान के समीप ही पहुंचा था कि किसी स्त्री की बहुत दबी सी चीख सुनाई दी। कान चेतन हो गये, पांव रुक गये। अंधेरे में ढूंढने का प्रयत्न करने लगा कि यह आवाज़ किधर से आई। फिर आवाज़ आई। यह गोपाल की कोठरी में लगी, एक कोठरी में से आ रही थी। दरवाज़ा अन्दर से बन्द किया हुआ था। आगे बढ़ा, दरवाज़े की दरारों में से देखा।

एक छोटी सी कोठरी थी, उसकी दीवारों पर न जाने कब से सफेदी नहीं हुई थी। सामने आले में दीया जल रहा था, उसकी कलौंस से आला काला हो गया था। सामने ही दीवार पर खूंटी पर कुछ मैले कुचैले कपड़े टँगे हुए थे। और, उसी आले के पास दीवार से लगी एक स्त्री खड़ी थी। डरी सी, कसाई के सामने गाय सी। उसके चेहरे पर भय के भाव दीख रहे थे, उसकी बड़ी बड़ी आंखें पूरी खुली थीं। मुंह अध खुला था, जैसे अब चीख निकली और अब निकली। स्त्री युवती थी, आयु शायद १७ से अधिक नहीं होगी। वह सुन्दर थी, परन्तु असाधारण नहीं।

उसके शरीर पर एक कुर्ती और पटीकोट के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। धोती पास ही कुछ दूर पर ज़मीन पर पड़ी थी। उसके सामने एक आदमी खड़ा था। पतला दुबला, सिर के बाल उड़ गये थे, रंग काला था। उसकी बांहें खुली

कपड़े सी, झुर्रियोंवाली, शुष्क थीं। उसने धोती व बनियाइन पहनी थी। उसने आगे बढ़ते हुए कहा, "अब की बार देर क्यों हुई। उस हरामज़ादे का खून कर डालूंगा, पर पहले तुमसे सुलट लूं।" स्त्री ने अपने हाथों में अपने चेहरे को ढक लिया, और उसने धीरे से कहा, "मुझे मार डालो, उनको मत छेड़ना, उन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, सब तुम्हारी ही मरजी से तो हुआ। तुम न चाहते तो कुछ नहीं होता। और अब की बार ही तो देर हुई है।"

"मैं कुछ नहीं जानता। एक तो उसने वक्त पर पैसे नहीं दिये और फिर धमकी देता है। तू उसकी तरफ से बोलती है? मैं क्या करूं, बनिया दिन रात टोकता है, कपड़े वाला अलग जान खाये है। सब धमकी देते हैं कि अगर उनका रुपया मैंने कल नहीं दिया तो वह पुलिस वालों को हमारा किस्सा बता देंगे। मैं क्या करूं, अगर इस वक्त उसके पास पैसा नहीं है। मैंने सोच लिया है, अगर उसने अभी रुपया नहीं दिया तो पहले तेरा खून करूंगा, फिर उसका और फिर अपना गला काट के मर जाऊंगा।" कह कर उस मौत की सी शक्ल वाले आदमी ने ऊपर के एक आले में हाथ बढ़ा कर एक बड़ा सा चाकू निकाला। वह स्त्री की ओर बढ़ा।

मेरे पांव कांप रहे थे, चेहरा जल सा रहा था, आंखों के सामने अंधेरा सा आया। बाजू फड़कने लगे। "क्या मेरे देखते

देखते एक स्त्री का खून हो जायेगा ? नहीं यह नहीं हो सकता।" मैंने सोचा और दरवाजे को धक्का देने ही वाला था कि मैंने अनुभव किया, कोई मेरे पास से निकला चला जा रहा है। अंधेरे में भी मैं पहचान पाया कि वह गोपाल था।

मैंने फिर झांका, वह आदमी खड़ा चाकू से खेल रहा था। एकाएक वह बोला, "पांच मिनट का वक्त और देता हूं तू उसके पास जा और उसे कह कि जैसे भी हो, वह रुपया ला कर दे।"

बहुत हिम्मत बटोर कर ही, जैसे उस युवती ने कहा, "और तुम आज रात में ही उसको शराब पी डालना। सुबह फिर तकाजे वालों का किस्सा होगा। मैं तंग आ गई जिंदगी से। मुझे मार डालो।"

मौत की सजीव मूर्ति ने चाकू बंद कर के अंटी में खोंस लिया। वह आगे बढ़ा, उसने स्त्री के समीप जाकर एक तमाचा उसके गाल पर मारा, स्त्री चीख ही देती, उसने अपने हाथ से उसका मुंह दबा दिया।

मैं सहायता करना चाहता था। परन्तु मैंने सोचा, एक से दो अच्छे होंगे। गली के बाहर को लपका। गोपाल जल्दी जल्दी चला जा रहा था, मालूम होता था वह अभी भागना ही आरम्भ कर देगा।

पीछे से आ कर उसके कंधे पर मैंने हाथ रखा। उसके मुंह से एक चीख निकली। उसने अपना मुंह हाथों से ढक

लिया। बीच बाजार था, सब लोगों की उधर को आँख उठी। मैं कुछ समझ नहीं सका। गोपाल के हाथ पाँव ढीले हो गये। मैंने उसे सहारा दिया और पास की एक बनिये की दुकान में उसे ले गया।

यहा बैठने के दो मिनट बाद गोपाल बोला, "तुम थे, मैं समझा ।" वह आगे नहीं बोल सका।

मैंने पूछा, "क्या बात है ?"

तीन मिनट तक वह कुछ नहीं बोला। फिर एकाएक उसने मेरा हाथ अपने हाथों में दबाते हुए कहा, "तुम्हारे पास दस रुपये हैं ?"

मैं अवाक था। गोपाल की आँखों में आँसू थे। वह रो उठना चाहता हो, दबी सी आवाज से उसने कहा, "मुझ पर बहुत बड़ा अहसान होगा।"

मैंने जेब में से बटुआ निकाल दस रुपये उसको दे दिए। जैसे उसमें जीवन आगया हो उसने कहा, "अभी आया" और वह रुपये लेकर, उठा और भागा हुआ गली में घुस गया।

कुछ देर में वह लौटा। अहसान से दबा सा, आँखें नीचे जमीन में गड़ाये वह मेरे पास आया और बोला, "चलो।"

वह मेरे साथ मेरे घर आया। एक गिलास पानी उसने पिया। मैंने पूछा, "क्या बात थी ?"

"तुमने मुझे जीवन दिया है, जयन्त !" और वह रो पड़ा।

एकाएक मुझे ख्याल आया कि उसके पड़ौस में एक स्त्री का जीवन खतरे में था। मैं तो भूल ही गया था। मैंने कहा, "गोपाल वह तुम्हारे पड़ौस में ?"

"उसी को रुपया देना था। तुमसे कुछ नहीं छिपाऊंगा। उसी को रुपये देने थे।"

"तुमने ?" मैंने चकित होकर कहा। "वह लड़की, उसे उसे तो उसे उस आदमी ने मार ही डाला होगा।"

"उसे रुपये मिल गये न। अब सब ठीक है।"

"वह कौन है ?"

"उस । पति।"

"और रुपये ?"

"उसे देने थे। मैं उसे प्यार करता हूं। वह मेरे पास रहती है। उसका पति तो कभी-कभी आता है।"

मैं समझ गया। "शायद स्त्री के शरीर का मूल्य लेने।"

"अब की ही देर हो गई। नहीं तो समय पर रुपये दे देता था।"

"तुमने उसे किराये पर रखा है।"

पुरुष अपनी स्त्री को भी किराये पर दे सकता है ? पशुता, नीचता, इससे अधिक क्या होगी ?

मेरे रुपये वापिस नहीं मिले। मुझे उनका बहुत दुख

है, यह एक ऐसे काम में लगे जिस पर विचार कर के मैं कांप जाता हूं ।

अगले दिन ही गोपाल का मकान मैंने जबरदस्ती बदलवा दिया। परन्तु कुछ ही दिन बाद मैंने गोपाल के साथ उसकी प्रेमिका के पति को देखा। गोपाल ने मुझे देखा और रास्ता काट कर निकल गया।

क्या मनुष्य का यह रूप देखने पर कोई उसे भूल सकता है ?

—जयन्त



हि करवट भी बदल नहीं सकती थी, तब भी उसके चेहरे पर शांति थी और यह कहना मुश्किल था कि वह कितने कष्ट में है।

थोड़ी थोड़ी देर बाद उसके होंठ भीतरी बेचैनी से फड़ फड़ा उठते। मैं उसके मुह के पास अपना कान ले आता। 'पानी मागने' या 'करवट बदलवा देने' को कहते, एक घाट दिए से गले से, उसकी आवाज घर-घर सुनाई देती और मैं उसे पानी पिला देता या करवट बदलवा देता। इसके बाद फिर अपनी आंखें उसकी आंखों पर टिका देता, ताकि हल्का सा इशारा या थोड़ी सी हिलन डुलन भी मेरी आंख से ओझल न हो जाय।

सन्ध्या के बाद रात ढलती चली आ रही थी। लगभग बारह बज गये थे और हम सब पहाड़ के नीचे बसे हुए एक बड़े स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी बदलने के लिये टिके हुए थे। 'स्ट्रेचर' पर वह लेटी हुई थी और पास ही उसकी देख भाल में मैं बैठा हुआ था। बाकी सब लोग इस समय परेशानी और थकावट के कारण ऊंघ रहे थे।

अचानक उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले अपने माथे पर रख लिया था। इसे वह अपनी हथेली से सिर पर धीरे धीरे ही दबाने लगी थी। उसकी आखों की तरलता बढ़ गयी थी। कई मास पश्चात् हुई इस प्रथम भेंट में सहसा मेरे मुह से निकल गया — "कैसी तबियत है?" और उसका सूनापन जैसे बोल उठा—"अच्छी हू।" और इसके अनन्तर फिर शांति

वह करवट भी बदल नहीं सकती थी, तब भी उसके चेहरे पर शांति थी और यह कहना मुश्किल था कि वह कितने कष्ट में है।

थोड़ी थोड़ी देर बाद उसके होंठ भीतरी बेचैनी से फड़फड़ा उठते। मैं उसके मुंह के पास अपना कान ले आता। 'पानी मांगने' या 'करवट बदलवा देने' को कहते, एक घोंट दिए से गले से, उसकी आवाज घर् घर् सुनाई देती और मैं उसे पानी पिला देता या करवट बदलवा देता। इसके बाद फिर अपनी आंखें उसकी आंखों पर टिका देता, ताकि हलका सा इशारा या थोड़ी सी हिलन जुलन भी मेरी आंख से ओझल न हो जाय।

सन्ध्या के बाद रात ढलती चली जा रही थी। लगभग बारह बज गये थे और हम सब पहाड़ के नीचे बने हुए एक बड़े स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी बदलने के लिये टिके हुए थे। 'स्ट्रेचर' पर वह लेटी हुई थी और पास ही उसकी देख भाल में मैं बैठा हुआ था। बाकी सब लोग इस समय परेशानी और थकावट के कारण ऊंघ रहे थे।

अचानक उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले अपने माथे पर रख लिया था। इसे वह अपनी हथेली से सिर पर धरे धरे ही दबाने लगी थी। उसकी आखों की तरलता बढ़ गयी थी। कई मास पश्चात् हुई इस प्रथम भेंट में सहसा मेरे मुंह से निकल गया — "कैसी तबियत है ?" और उसका सूनापन जैसे बोल उठा—"अच्छी है।" और इसके अनतर फिर शांति

## छब्बीस

टेलीफ़ून ! रेल !! पहाड़ !!!

और हम उसे ले पहाड़ से वापिस लौट रहे थे। रेल पूरी रफ़्तार से उड़ी आ रही थी। रात भर का मैं जगा था और अब फिर रात होने वाली थी। इस बीच एक मिनिट भी आराम नहीं मिला था। लेकिन नींद या ऊब तनिक भी आती नहीं प्रतीत होती थी। बिल्कुल चैतन्य, उसके सामने वाली 'बर्थ' पर मैं बैठा हुआ था। आँखें उसी की तरफ लगी हुई थीं कि इशारा पाऊँ और हुक्म बजा लाऊँ। एक कर्त्तव्यनिष्ठ का सा भाव मेरे हृदय में था।

और वह? उसकी आँखों में, कष्ट और असीम वेदना छा रही थी। उसकी आँखों का भोलापन और भी पिघल गया था। फिर भी उसमें हिम्मत और साहस का अभाव न था। उस के शरीर का निचला भाग बिल्कुल बेकार हो गया था और स्वय

वह करवट भी बदल नहीं सकती थी, तब भी उसके चेहरे पर शांति थी और यह कहना मुश्किल था कि वह कितने कष्ट में है।

थोड़ी थोड़ी देर बाद उसके होंट भीतरी बेचैनी से फड़फड़ा उठते। मैं उसके मुह के पास अपना कान ले आता। 'पानी मांगने' या 'करवट बदलवा देने' को कहते, एक घूंट दिए से गले से, उसकी आवाज बर बर सुनाई देती और मैं उसे पानी पिला देता या करवट बदलवा देता। इसके बाद फिर अपनी आंखें उसकी आंखों पर टिका देता, ताकि हल्का सा इशारा या थोड़ी सी हिलन जुलन भी मेरी आंख से ओझल न हो जाय।

सन्ध्या के बाद रात बढ़ती चली आ रही थी। लगभग बारह बज गये थे और हम सब पहाड़ के नीचे बसे हुए एक बड़े स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी बदलने के लिये टिके हुए थे। 'स्ट्रेचर' पर वह लेटी हुई थी और पास ही उसकी देख भाल में मैं बैठा हुआ था। बाकी सब लोग इस समय परेशानी और थकावट के कारण ऊंघ रहे थे।

अचानक उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले अपने माथे पर रख लिया था। इसे वह अपनी हथेली से सिर पर धरे धरे ही दबाने लगी थी। उसकी आंखों की तरलता बढ़ गयी थी। कई मास पश्चात् हुई इस प्रथम भेंट में सहसा मेरे मुह से निकल गया — "कैसी तबियत है ?" और उसका सूनापन जैसे बोल उठा—"अच्छी हू !" और इसके अनन्तर फिर शांति

छा गई। मेरा हाथ स्वयं उसके बालों में खेलने लगा। मानो उंगलियां उनसे बीते हुए दिनों की एक एक बात पूछ रही हों।

और दूसरी गाड़ी इतने में आ गई। 'स्ट्रेचर' और डिब्बे में ले जा उसे आराम से लिटा दिया गया और मैं फिर सामने बैठ गया। सब लोग फिर ऊंघने लगे और उसकी आंखों में भी कुछ आलस सा दीखने लगा। उसकी हथेली को मैंने अपने हाथ में ले लिया और उसे धीरे धीरे सहलाने लगा। उसने एक बार न जाने क्या अपनी आंख से कहते हुए मेरी ओर देखा और फिर आंखें धीरे धीरे बन्द कर लीं। मैं बैठा-बैठा उसके पीले पड़े मुंह को देखता रहा। उसके गोल चेहरे और बड़ी बड़ी आंखों पर एक शान्ति सी दौड़ रही थी। वेदना और कष्ट के भाव अब बहुत हल्के पड़ गये थे। मैंने सन्तोष की एक ठण्डी सांस ली।

तीन चार घण्टे और बीत गये। सवेरा होने लगा। गाड़ी में उजेला सा होगया। चारों तरफ की दुनिया इस उजेले में से यकायक जग पड़ी सी दिखाई देने लगी और सब कुछ स्पष्ट सा नजर आने लगा। उसके चेहरे का पीलापन भी और अधिक स्पष्ट हो आया। मानो वह मुर्दा हो और उसमें खून का एक कतरा भी न हो।

धूप मुंह पर पड़ने से सहसा वह जग पड़ी। उसकी रोशनी ने न जाने उस पर क्या प्रभाव डाला, वह चौंकी सी एकटक न जाने किस शून्यता को देखने लगी।

'क्या है ?' बड़े आहिस्ता से उसे झकझोरते हुए मैंने उससे पूछा। 'कुछ भी तो नहीं।' उत्तर आया और वह फिर शान्त हो गई। मेरे दिल में न जाने क्यों भय का समावेश हो गया। सब लोग आवाज सुन चौंक कर जाग गये और प्रश्नसूचक ढंग से मेरी ओर देखने लगे। उसकी मा अपनी जगह से उठकर मेरे पास ही उसके सिरहाने आ बैठी।

'क्यों, बिटिया क्या है ?' उसने स्नेह पूर्ण स्वर में सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा। आंख खाल मा को शून्य दृष्टि से देखती हुई, मानो कह रही हो कि कुछ नहीं, उसने फिर आंखें मीच लीं। मा ने उसके सिरहाने बठते हुए उसके सिर को अपनी गोद में छिपा लिया और धीरे धीरे सिर पर हाथ फेरने लगी।

पन्द्रह मिनट और गुजर गये। अचानक फिर चौंककर वह उठने के लिए फड़फड़ाने लगी। उसकी आंखें फिर शून्य की तरफ तकती सी स्थिर हो आईं।

"क्या है, क्या बात है ?" एक साथ ही हम सबका स्वर निकला। वह कुछ क्षण तक कुछ न बोली और सिर्फ देखा की। इसके अनन्तर डरे हुए भाव से वह चिल्ला उठी—"मा, वह देखो, वह मुझे लेने आ रहे हैं।"

और मा की आखों में आंसू भर आए और तब ही आंख उठाकर मैंने देखा कि सब ही रो रहे थे। मेरी आखों से भी आसू बह मेरे होठों और नथुनों पर अटक रहे थे। आसू से

भरे कण्ठ से ही माँ उसे सान्त्वना देने की कोशिश कर रही थी कि "अरी, यहाँ कोई नहीं है। और अगर है भी तब हम मार भगा देंगे।"

और भोले बच्चे के भाई ही सब कुछ समझ गई जैसे भाव से उसने अपनी गर्दन मा की गोद में रखदी थी और बड़ी शान्ति से लेट गई थी। अगले ही क्षण माँ आंचल से अपने आंसू पोंछ रही थी।

कुछ मिनिट फिर शान्ति से गुजर गए। लेकिन मा के दिल में उठा तूफान शायद अभी तक उमड़ ही रहा था, इसीलिये उन्होंने अचानक न जाने क्या सोचकर उसके सिर पर हाथ फेरते फेरते मेरी तरफ उंगली उठाते हुए उससे पूछा— "इन्हें जानती है बेटी, ये कौन हैं ?"

और उसने गोद में से धीरे से गर्दन उठाकर मेरी तरफ देखा और फिर धीरे से माँ की गोद में सिर रखते हुए जीवन में पहिली बार कहा—'माँ, ये मेरे पति हैं।'

और मैंने देखा एक बार फिर मा की आंखें उमड़ आईं और तब ही मैंने फिर आंख उठा कर पाया कि सब रो रहे हैं और मैं भी रो रहा हूं।

गाड़ी चली जा रही थी और मेरे दिल में प्रथम बार ये भाव उठ खड़े हुए थे कि मैं उसे प्यार करता हूं और इस पत्थर दिल को किसी ने छेद दिया है। —लेखराम

